नदी तुम बोलती क्यों हो ?

नर्मदाप्रसाद उपाध्याय

प्रवीण प्रकाशन

महरौली, नई दिल्ली—110030

अपनी माँ श्रीमती शान्तिदेवी उपाध्याय

और पिता श्री बृजमोहन उपाध्याय

को

जिन्होंने जन्म दिया और साथ ही

यह जिजीविषा भी कि

मैं स्याही के मार्फत अपने समय के सवालों से जूझूँ....

समय भले अर्थ न दे

लेकिन जन्म निरर्थक न हो।

— नर्मदाप्रसाद उपाध्याय

कंकर की ओर से....

निर्बंध को बाँधने का यत्न निबंध है। इतना घट रहा है और इतनी तेजी से घट रहा है कि उसके उद्दाम वेग को थामने के लिए शब्द कम पड़ने लगते हैं; तब यह प्रयास किया जाता है कि जो कुछ घटित हो रहा है, उस पर जो प्रतिक्रिया हो रही है उसे ऐसी समर्थ भाषा में बाँधें जिसके एक–एक शब्द की व्यंजना में विस्तार में वह सब समाहित हो सके जो इस उद्दाम वेग को व्यक्त करना चाहता है। यह मुक्ति को बाँधने का यत्न है, निस्सीम को सीमित करने की कोशिश है, अथाह को माप लेने का प्रयास है, यही है निर्बंध का बंधन जिसे आज का निबंध कहा जा सकता है।

पिछले दो संग्रहों : 'एक भोर जुगनू की' तथा 'अँधेरे के आलोकपुत्र' के निबंधों से ये आगे के निबंध हैं, मायने में कि ये लिखे भी बाद में गए और इस बीच मेरा विकास हुआ, परिमार्जन हुआ जो निश्चय ही इन निबंधों में झाँकता दिखाई देगा।

ये निबंध **ललित निबंध** हैं, यह इसलिए स्पष्ट कर रहा हूँ कि ललित के बारे में मेरी धारणा, ललित के पारम्परिक अर्थ से भिन्न है। ललित वह है जो मनुष्यता को लालित करे, उसे बेहतर बनाने की कोशिश करे, उसके मानुष भाव से उसे परिचित कराए, अपने समय के सवालों से जूझे, उनके हल खोजने का प्रयत्न करे, प्रवाह को आत्मसात् करे, बंधनजयी होने की लालसा लिये जो नया गढ़ने के रचनात्मक संकल्प के साथ अभिव्यक्त हो, वही ललित आज के संदर्भों में ललित है। ललित को नास्टेल्जिया से जोड़ने की कोशिशें की गई हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि इस किस्म के निबंधों ने इस विधा के बारे में वितृष्णा पैदा की।

पिछले संग्रहों के निबंधों को लेकर कई तरह की प्रतिक्रियाएँ आईं जिनमें से यह उभरकर आया कि इन निबंधों को कैसे ललित कहें ? क्या ये ललित निबंध कहे जाने चाहिएँ? क्या इन्हें सिर्फ निबंध नहीं कहा जा सकता ? क्या ज़रूरत कि इन्हें ललित निबंध कहा जाए? मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि इन निबंधों को ललित निबंध ही कहना चाहिए। क्या इन निबंधों को इसलिए ललित न कहें क्योंकि इनमें मांसल सौन्दर्य–बोध, जानबूझकर ढूँसे गए लोककाव्य की पंक्तियों और गैर–संप्रेषणीय भाषा और निष्कर्षों का अभाव है? क्या इन्हें इसलिए न ललित कहें क्योंकि ये बोझिल पांडित्य से मुक्त हैं और मानुष अस्मिता के दर्द की और सच्चे कर्म के आख्यान की बातें करते हैं, इनमें आज की विसंगतियों को लेकर व्यंग्य का स्वर है और ये उस मानवीय जिजीविषा की अभ्यर्थना करते हैं, जिसके भरोसे मनुष्य की अविराम यात्रा के नैरन्तर्य के बने रहने के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है ?

निबंध–लेखन की पुरानी और समृद्ध परम्पराओं में जब ललित निबंध आया तो उस निबंध के बारे में यही धारणा बनी कि यह तो कोमलकांत पदावली की तरह होता है जिसका

उद्देश्य लोकरंजन है और इसके लेखक चूँकि साहित्य के मनीषी विद्वान् हैं इसलिए यह साहित्यिक विधा है, ये कम लिखे जाते हैं इसलिए विरल विधा है। इस सोच ने इस विधा का बहुत अहित किया। इससे ज़्यादा अहित उस प्राध्यापकीय शैली ने किया जो इन निबंधों पर हावी हुई अपने पांडित्य को दर्शाने के चक्कर में और जिसकी वजह से यह आम पाठक से दूर होते गए। ललित निबंध ऐसे भी हो सकते हैं, जो ज़्यादातर पढ़नेवालों की समझ में आएँ, जिनमें स्पष्ट निष्कर्ष हों, जो अपने अतीत की उत्कृष्टता से परिचित कराते हुए बिना वादों प्रतिवादों और मत–मतांतरों में उलझे मनुष्य की बेहतरी के लिए लिखे जाएँ।

बहुत संभव है इस विराट साहित्यिक हिन्दी जगत् के विदग्ध मनीषियों, मौलिक रचनाकारों और अपने शाश्वत साहित्यिक अवदान के लिए चर्चित रहने वाले महाव्यक्तित्वों के सोच के बीच मेरी यह धारणा अछूत समझी जाए, इसे हास्यास्पद करार दिया जाए, लेकिन इतना ज़रूर है कि इसी दृष्टि से जो ललित निबंध मैंने लिखे हैं उन्हें पढ़कर वे लोग ज़रूर स्पंदित हुए जिनके लिए, जिनके बारे में और जिनकी पहिचान को शब्द देने के लिए मैंने ये ललित निबंध लिखे। मुझे लगा कि ऐसे ललित निबंधों ने उन्हें गहरे छुआ है और फिर एक के बाद दूसरा निबंध स्वतः रचा जाता रहा। यह कृति ऐसे ही सुधि पाठकों की प्रेरणा का प्रतिफल है। ये पाठक ग़ैर–साहित्यिक ज़रूर कहे जा सकते हों लेकिन किसी लेखक के लिए इससे बड़ी क्या उपलब्धि होगी कि वह जिस उद्देश्य के लिए लिख रहा है वह उसे पूरा होता दिखाई दे !

जड़ कोहेनूर का नूर, बेनूर मगर स्पंदित कंकर के सामने बड़ा फीका और प्राणहीन है। कोहेनूर की तरह मुकुट में जड़ा जाकर, इतिहास में पड़े रहकर निर्वासन की पीड़ा भुगतने से यही अच्छा है कि नर्मदा किनारे कंकरों के बीच कंकर की तरह रहो और नर्मदा के सहज और निर्मल प्रवाह को आत्मसात् करते उसे बाँटने की कोशिश करो।

–नर्मदाप्रसाद उपाध्याय

खण्डवा – 15.8.95

अनुक्रमणिका

नदी तुम बोलती क्यों हो ?

नीलकण्ठ तुम नीले रहियो...

आए पावस के पाहुने

सर्जन फिर विसर्जन या फिर सर्जन

एकान्त उत्सव

आँखों में आग आँज ली

हमारे सामाजिक परिदृश्य में मुकुट, मस्तक और मुक्ताहार

दिहाड़ी दिल्ली की

कुछ सूर्यों की तलाश में

महावट कुछ जुगनुओं की रौशनी में

बारूद बदले फिर पराग में

मंगलमय कामनाओं सहित

हम मिलेंगे राह में, अक्षत लिये हर मोड़ पर

चलो फिर पास दिए के

अँगड़ाई आतंक की

मोम–नदी के तट से

सोने दो कृष्ण, मुझे सोने दो

पलाश वन को लाँघते

वृक्ष अभिमन्यु

तृप्ति से तृष्णा का जागरण

दौड़ नहीं है यात्रा

बहुत कुछ लिखा...

छलावे को खोजते

हरे–हरे हथियार लिये

निबंध नहीं होता पूरा

नदी तुम बोलती क्यों हो ?

कलकल प्रवाह बड़ा वाचाल होता है। प्रवाह धीमा हो तो लगता है कोई गुनगुना रहा है। तेज़ हो तो लगता है वह बात कर रहा है और जब प्रपात के रूप में झरे तो उसका निनाद ऐसा प्रतीत होता है, गोया वह झगड़ पड़ा हो किसी से। भेड़ाघाट में झगड़ने वाली नर्मदा नेमावर में बात करने लगती है और ओंकारेश्वर में गुनगुनाती है।

नदी का बोलते रहना ही उसके प्रवाह का बना रहना है। नदी के गुंजन में, निनाद में जो ध्वनि है यही ध्वनि मनुष्यता की आत्मा है। नदी के इन्हीं स्वरों में मानव ने संगीत खोजा, गीत खोजे, वह कल्पना खोजी, जिसने कहीं अजंता रची तो कहीं खजुराहो, कोणार्क और ताज। नदी यदि बोलती नहीं रहती तो मनुष्यता कें शायद कोई सृजन होते ही नहीं। नदी के बोल बड़े अनमोल हैं। ये बोल अतीत की इबारतें, वर्तमान के निर्माण और भविष्य दीप हैं, जिनकी उन्नत शिखाओं को इन बोलों के तरल स्पर्श से जगमगा जाना है। जब तक नदी के बोल हैं तब तक तिमिर का तिरोहित होते रहना तय है। इन बोलों के गूंजते आलोक कभी निष्प्राण नहीं हो सकता। भले भीष्म की तरह उजाला बिंधा रहे तिमिर के बाणों से और प्रतीक्षा भी करता रहे उत्तरायण की, लेकिन इस उजाले को नदी मरने नहीं देगी। उसके बोल कोशिश करेंगे कि उजाले का अंत भीष्म की तरह न हो, उनकी देह से अँधेरे के तीर निकाले जाएँ और यह गंगा–पुरुष फिर अपने सम्पूर्ण पौरुष के साथ उठ खड़ा हो।

हम सब ओर से निराश हैं, लेकिन नदी के बोल बहुत आशा बँधाते हैं। हम क्यों हैं इतने निराश ? इसलिए कि नदी के बोलों से हमारे तादात्म्य टूट गंए। कभी नदियों के इन्हीं स्वरों से हमने अजंता रची, कोणार्क तराशा, ऋचाएँ गूँथीं वाणी में, लेकिन धीरे धीरे ताल भंग हुई, लय टूटी और अंततः हम टूटे। तिमिर हावी हुआ, उजाले के भीष्म बिंध गए, नदी बहती रही, बोलती रही, लेकिन हम जड़ हो गए। गंगा, कावेरी, सरस्वती और ब्रह्मपुत्र से लेकर ताप्ती और नर्मदा तक सिर्फ श्लोकों में सीमित हो गईं। हमने नादाग्य खोजने की बजाय इन बोलों को बाँधना चाहा अपने–अपने लिए, यह सब उसी का परिणाम है।

नदी खुद कभी ऋचा नहीं हो सकती; ऋचा ज़रूर नदी के प्रवाह को गा सकती है। जब हमारे आदि–पूर्वजों ने नदी की स्तुति की, तो वह वास्तव में उसके प्रवाह की स्तुति थी, उसकी गति के सौन्दर्य का वंदन था, लेकिन हमने इस स्तुति को ही नदी मान लिया। हमने स्तुतिगान की परम्परा बना ली। नदी की वास्तविक महिमा तो उसका प्रवाह है, गति है, लेकिन महिमा के नाम पर नदियों के ऐसे स्तुतिगान हुए जो विभोर तो कर सकते थे लेकिन जो सच्चे कर्म का वरदान नहीं दे सकते थे। नदी की सच्ची पवित्रता तो उसके प्रवाह में विद्यमान है। प्रवाह से परे रहकर जड़ और अवास्तविक महिमा के गान में डूबे रहना, नदी की सच्ची पवित्रता का गान नहीं है। नदी माँ है, अधिष्ठात्री है कर्म की प्रतिमान है गति की, प्रतीक है

संकल्प की, प्राण है जिजीविषा का और अस्मिता है मनुष्यता की। उसके इतने विस्तार को कैसे सिर्फ स्तुति में सँजोया जा सकता है ? नदी तो स्रोत से भी परे है और सागर से भी। नदी सिर्फ गोमुख की धरोहर नहीं, न उस सागर की जिसमें उसे समा जाना है, नदी तो सिर्फ प्रवाह की है, गति की है जो रास्ते की चट्टानों को तोड़कर अपना रास्ता बनाती है। उसका यही प्रवाह, कहीं निनादमय और कहीं मंथर लेकिन अविराम और अविकल– उसे नदी बनाता है, अन्यथा गोमुख से निकलकर वह सिर्फ सीमित हो जाती तो कुंड हो जाती, ताल हो जाती, सिमट जाती और यदि सिर्फ अपने उत्स से निकलकर बिना अपना रास्ता बनाए समुद्र में समा जाती तो उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता, वह सिर्फ अथाह जल का एक मौन अंग–भर बनी रहती, लेकिन नदी सिर्फ अपने प्रवाह के कारण नदी है और वह निरन्तर प्रवाहमान है इसीलिए बोलती है, गुनगुनाती है और घोर निनाद भी करती है।

समुद्र गर्जन करता है और नदी वार्तालाप। नदी का यही वार्तालाप हमारे जीवन को परिभाषा देता है। नदी के तट और इन तटों पर बसे तीर्थ वास्तव में नदी की गति की अभ्यर्थना के लिए बने। नदी की गति को शक्ति के रूप में पूज दिया गया, मगर बाद में नदी गौण हो गई, शक्ति गौण हो गई और पूजनीय हो गए पंडे। नदी से सीधा संवाद न हो सके, इसलिए जाने कितने पाखंड रच दिए गए। निर्मल और फेनिल नर्मदा से हम बहुत दूर कर दिए गए। नदी के बोलों से दूर रखने की कोशिशें हुई और इसीलिए हमने अपना प्रदूषण नदी में विसर्जित कर, नदी को प्रदूषित करार देने का एक षड्यन्त्र रच लिया। नदी कभी अपवित्र नहीं हो सकती। उसका प्रदूषण हमारी विकृत वृत्तियों के उसके निर्मल जल में विसर्जन का परिणाम है।

आज भी इतने प्रदूषण से अभिशप्त होते हुए, जगह–जगह बँधते उसके रास्तों को मोड़ देने की कोशिशों से लहूलुहान होते हुए भी नदी क्यों बोलती है ? किसी को इतना प्रताड़ित किया जाए तो वह बोलना तो दूर, देखे तक़ नहीं। लेकिन नदी है कि बोलती है, सतत् बोलती है। गिरिराज हिमालय के विभिन्न स्रोतों से फूटी अलकनंदा, भागीरथी और मन्दाकिनी को सुनें, बहुत वाचाल है उनका प्रवाह। और फिर चाहे रुद्रप्रयाग हो, कर्णप्रयाग, केदार या बद्रीनाथ, इनके स्वर कहीं तीखे, कहीं मधुर और कहीं घोर नाद से परिपूर्ण हो जाते हैं और जब ये तीनों मिलकर हरिद्वार में गंगा बनती है तो नदियों के समवेत स्वर समूची मनुष्यता की झंकार बन जाते हैं। ऋषिकेश और हरिद्वार हमारे जड़ तीर्थ नहीं, मानवता की प्रवाहमान यात्रा के वे पड़ाव हैं जहां साक्षात् गति गूंजती है। नदियों का यह गुंजन, यह अनवरत वाचाल रहना क्या हमें कहीं झकझोरता नहीं ? कहीं बाध्य नहीं करता सोचने को कि यह नदी इतना क्यों बोलती है ?

पहले करता था, अब नहीं करता। पहले इन्हीं वाचाल नदियों के किनारे आश्रम बन जाया करते थे, पर्णकुटियां सज जाया करती थीं। इनके प्रवाह का स्वागत करने शाल और

ताड़पत्रों के बंदनवार बँध जाया करते थे और इन सबके बीच कर्म और साधना मिलकर मानव के परिष्कार के लिए नए–नए शिल्प गढ़ा करते थे। नदी बात करती थी, कर्म–पुरुष सलाह लेता था, फिर वह गढ़ दिया करता था इन अरण्यों के बीच किसी राम को, कृष्ण को, अर्जुन को, एकलव्य को। नदी के प्रवाह की प्रेरण से ओंकारेश्वर में शंकर, शंकराचार्य बन जाया करते थे और माहिष्मती में रेवा के तट पर मंडन मिश्र। हमारी संपूर्ण कर्ममय मनीषा नदी के प्रवाह से सीधे संवाद की देन है और नदी आज भी इसीलिए बोलती रहती है कि शायद इतिहास कभी दोहरा ले अपने आपको।

नदी से बहुत कहता हूँ, चुप हो जा, मौन हो जा, तब्दील हो जा कुंडों में, सरोवरों में, सजा ले अपने आसपास सँवारे हुए कुंज और खिला ले अपने जल में सुन्दर कमल और कुमुदिनी। क्यों बहती रहती है अनवरत कठोर पाषाणों के बीच, तपती धूप में ? कहीं बर्फ में जमना पड़ता है तो कहीं निरन्तर फिसलना, क्यों नहीं देती विराम इस कंटक–भरी, पीड़ा–भरी यात्रा को ? सिर्फ तुझे अपना प्रवाह ही तो रोक लेना है, फिर तो तेरे सौन्दर्य की आरती उतारने जाने कितने देवपुरुष खड़े हैं। लेकिन वह नहीं मानती। वह तो बोलती रहती है, बहती रहती है, पत्थरों से टकराती है तो आह नहीं निकलती, संगीत के स्वर निकलते हैं, कांटों–भरे वन को जब पार करती है तो कराह नहीं निकलती, कोई गीत फूट जाया करते हैं। मुग्ध हो जाना पड़ता है नदी की इस भंगिमा पर।

घंटों कलकल प्रवाहमान नदी के किनारे बैठे रहो। उसके स्वर कभी एकरसता नहीं देंगे। उसका प्रवाह हर बार कुछ नई बात करेगा, हर लहर कोई अद्भुत पंक्ति देगी। महानगरों के बीच रचे गए शब्द जाने क्यों बाँधते नहीं, शब्द तो वे बाँधते हैं जो नदी के बीच से उठाकर लाए गए हों। नदी के बीच से बटोरे गए शब्दों ने ही तो हमारी भाषा की अच्छी और प्राणवान पहचान रची है। इन्हीं शब्दों ने सरयू–तट पर रामायण रची और गऊघट पर सूरसागर। इन्हीं शब्दों ने माखनलाल की कविता रची और परसाई का गद्य। नदी से लिये गए इन्हीं शब्दों ने एक निर्धन लेकिन कर्मण्य लोकमानव को सच्चे रूप में व्यक्त किया है।

नदी इसीलिए बोलती है। उससे एक दिन पूछ लिया था, यों वह कोई जवाब नहीं देती। वह बोलती ही रहती हैं। वह क्या बोलती है ? वह अपनी व्यथा नहीं सुनाती, वह हमारी कथा सुनाती है। वह हमारे ज़माने की असमानता का, शोषण का, अन्याय का और विषमता का बयान करती है। वह हरिद्वार से चलती है तो प्रयाग तक आते–आते उसका कंठ रुँध जाता है। वह अमरकंटक से चलती है तो सहस्त्रधारा तक आते–आते उसके बोल बहुत भारी हो जाते हैं। कश्मीर की चिनाब और असम की ब्रह्मपुत्र बोलते–बोलते थक चलीं, पंजाब की सिंधु अब थोड़ी सांमान्य हुई अन्यथा उसके अवरुद्ध कंठ के बोल समझ में नहीं आते थे। तो जब मैंने उससे बार–बार पूछा कि तुम बोलती क्यों हो ?

तो उसने यह जवाब दिया कि तुम यह सवाल ही क्यों करते हो ? मैं बोलती हूँ तो बोलते रहने दो। तुम अपनी कथा सुनो और अपना परिष्कार करो। तुम क्यों बार–बार पूछते हो कि नदी, तुम बोलती क्यों हो? तुम कोशिश करो कि मेरे बोलने से तुम्हारे आचरण में अंतर आए, कोशिश करो कि तुम पारदर्शी बनो, कोशिश करो कि तुम वह बनो जिसके लिए तुम बनाए गए हो। मुझे निरन्तर इसीलिए न जाने कब से बोलना पड़ रहा है कि तुम वह बन नहीं पा रहे, जिसके लिए तुम गढ़े गए हो।

तुम गढ़े गए इसलिए कि तुम जो आज हो उससे कल और बेहतर बन सको। तुम तराशे इसलिए गए कि तुम कुछ ऐसा तलाश सको जो निर्माण का मानक बने। तुम बनाए इसलिए गए कि तुम वह बनाओ जिसकी नींव में कुछ ठोस हो। तुम गतिशील इसलिए किए गए कि तुम पड़ाव भर न बने रहो, मंजिल बनो। तुम्हें अंजुरी इसलिए सौंपी कि तुम आचमन भर करते न रहो, कुछ अर्ध्य भी चढ़ाओ। तुम्हें कंठ इसलिए दिया कि तुम वंदना मत करो बल्कि संघर्ष के लिए जयघोष करो। तुम्हें, मन दिया कि तुम उसे अपनी व्यथा कां सरोवर न बनाओ, बल्कि वह पंछी बनाओ जो उड़कर सारे जग की व्यथा का अंदाज़ा कर सके। तुम्हें संवेदना दी कि तुम रचो, अपने–आपमें बसो नहीं। तुम्हें आराधना दी कि तुम अपने कर्म को अपना आराध्य मानो, अर्चना करो उसकी बजाय ढोंगी जीवित पाखंडियों के। तुम्हें भावना दी कि तुम उस भावना को अंकुराओं, वृक्ष बनाओ और लाद दो इन वृक्षों को अपनी उपलब्धियों के फल से, बजाय इसके कि किसी गमले की तुलसी के फेरे लगाकर अपने–आपको धन्य समझो। उस तुलसी को वृक्ष बनाकर उसकी मंजरियों को बिखेर दो माटी के कण–कण में, ताकि पवित्रता का क्षेत्रफल बढ़ सके।

तुम्हें इतना कुछ दिया, फिर भी जाने कितनी सदियों से तुम वैसे के वैसे हो। उँगलियों पर गिने जाने वाले बहुत कम लोग मेरे, बोल समझ पाए और पूर्ण हो पाए। पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ गुजरीं, लेकिन इन पीढ़ियों के बीच बहुत कम मानव जन्म पाए– पूर्ण मानव, जीवंत मानव, कर्मण्य और प्राणवान मानव ! शेष तो मानव के नाम पर सिर्फ मानव की संज्ञा–भर बने रह गए।

मैं भी विश्राम चाहती हूँ थोड़ा, विराम देना चाहती हूँ गति को, मौन मुझे भी अच्छा लगेगा, लेकिन मेरी विवशता है बहना और बोलते रहना क्योंकि तुम बह नहीं पा रहे, प्रवाह से एकात्म नहीं हो पा रहे, समो नहीं पा रहे मेरे में अपने आपको। अकेले मुझमें स्नान करने से मुझे परितृप्ति नहीं मिलेगी, इसलिए तुम बेहतर बनो, मानक बनो, मंजिल बनो, अर्ध्य चढ़ाओ, संघर्ष का जयघोष करो, उड़ो जग की व्यथा जानने को, रचो, आराधना करो कर्म की और बिखेर दो तुलसी की गंधिलं मंजरियाँ इस विश्व की माटी के बीच। मैं वायदा करती हूँ कि जिस दिन तुम यह सब कर, लोगे, स्वयं प्रवाह बन जाओगे, मैं उसी पल बोलना बंद कर हमेशा के लिए सागर का मौन अंग बन जाऊंगी।

नीलकण्ठ तुम नीले रहियो...

बचपन कभी–कभी बेहद याद आता है। प्रौढ़ता के प्रति बचपन में बड़ा आकर्षण रहा करता था, प्रौढ़ों को मिलने वाले सम्मान और अधिकार देखकर बड़ी ईर्ष्या होती थी। लेकिन जब प्रौढ़ हुए तो बचपन बहुत याद आने लगा; प्रौढ़ता अखरती है क्योंकि अब मालूम पड़ता है कि यह प्रौढ़ता वास्तव में कितनी बड़ी छलना है जिसने बचपन की निश्छलता का अंत कर दिया। इस प्रौढ़ता ने बहुत कुछ छीन लिया। हमारी निर्मल दृष्टि छीन ली, सहज विचार, सरल आचरण और निष्कपट व्यवहार छीन लिए और बदले में दे दिए छद्म, पाखण्ड, झूठ और ऐसे आवरण जो हमें ढकते कम और उजागर ज़्यादा करते हैं। इसीलिए निरावृत बचपन की याद रह–रहकर अक्सर सताया करती है।

बचपन की कोयल, बचपन के कदम्ब, बचपन की पाँखुरी और बचपन के पखेरू सब याद आते हैं। आज जब याद करने बैठा हूँ तो नीलकंठ याद आ गया। बचपन में जब दशहरा जीतने जाते थे तो दादी कहती थी कि कहीं नीलकंठ दिख जाए तो ज़रूर देखना। उसे सौभाग्य का सूचक माना जाता है। दादी एक पंक्ति भी सुनाती थी :

"नीलकण्ठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात राम से कहियो..."

इस बार कान्हा जाना हुआ तो वहाँ के घने शालवनों में एकान्त में फुनगियों पर बैठे नीलकण्ठ दीख पड़े तो तत्काल उड़ गए हमें देखकर। गाइड ने उसका जन्तु – शास्त्रीय नाम बताया 'इंडियन रॉलर', आदतें बताईं, उसके अद्भुत सौन्दर्य का वर्णन किया, उसकी चर्चा बताई, आहार के बारे में बताया; लेकिन मेरा मन तो मुड़ गया अपने बचपन की तरफ, मेरी दादी की पंक्ति बार–बार नीलकंठ को देखकर मन में गूंजने लगी :

नीलकंठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात राम से कहियो...

बड़ा सुन्दर और भोला पक्षी है नीलकंठ। कुदरत नें उसे तरह–तरह के रंगों से कुछ इस तरह सराबोर किया है कि उसे देखा तो लगता है कि जैसे इंद्रधनुष को गोल आकार में ढालकर उसे टहनी पर बिठा दिया हो। उसके मोहक रंगों की शोभा, सृष्टि के सौन्दर्य का गुमान कराती है। उसकी आँख से एक निश्चल ममत्व झाँकता है; बाज़ की आँखों की तरह शरारत नहीं। पहली दृष्टि में ही लगता है कि उसके भोलेपन पर रीझकर कुदरत ने अपने मन से उसकी देह पर अपने सुन्दरतम रंग उड़ेल दिए होंगे। उसकी आवाज़ सुनाई नहीं देती, लेकिन उसकी देह का रोम–रोम बोलता है। उड़ता है तो उसके नीले पंख तैरते ऐसे दिखाई देते हैं जैसे एक असीम नीले आकाश की छांह में एक छोटा–सा आकाश उड़ रहा हो। मेरी अम्मा का वह भाव जो बचपन में इस पंक्ति को सुनाते उपजा होगा, मुझे आज भी विभोर कर देता। वह भाव मेरी उस बूढ़ी दादी को धरोहर के रूप में परम्परा से मिला। उस भाव मूल में

यही था कि अपने बचपन के निष्पाप विचार और आकांक्षाएँ बता दो नीलकण्ठ को, वह तुम्हारी बात कह देगा राम से। तुम तो छोटे हो, कह नहीं सकते तो यह नीलकण्ठ कह देगा। अम्मा का यह कहना बड़ा स्वाभाविक था। वह चाहती थी कि इन बच्चों के अन्दर जो शिशु राम बैठा है, जो अभी बोल नहीं पाता लेकिन जन्म गया है ऐसे विसंगत संसार में, उस बालक राम की भावनाएँ उस सच्चे राम तक पहुंचें। यह आस्थावादी दृष्टि भले पारम्परिक रही हो लेकिन बड़ी स्निग्ध, नेहमयी और सारे तर्कों से परे थी, उसमें एक निर्मल भावना की उदात्तता थी, असीम आशीष का वैराट्य था, राम से राम को जोड़ देने की एक निष्कपट कामना और ललक थी। नीलकण्ठ उसके लिए वह भोला पक्षी था जो छोटे–छोटे रामों की निश्छल भावनाओं को सच्चे राम तक पहुंचाने का माध्यम था और इसीलिए वह सौभाग्य का सूचक था, पूजनीय था।

दादी नीलकण्ठ के नीले बने रहने की इसलिए कामना करती थी कि नीला रंग शिवत्व का प्रतीक है, इस मायने में वह शिव का रूप है, और शिव का सीधा संवाद है राम से, राम को तो सुनना ही है शिव को, इसलिए नीलकण्ठ से श्रेष्ठ कोई दूसरा माध्यम नहीं हो सकता। इसीलिए दशहरे पर बच्चों को समझाकर कहती थी कि नीलकण्ठ को देखकर नमन करना और कहना 'नीलकण्ठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात भगवान से कहियो' और जो तुम्हारे मन में है उसे निस्संकोच कह देना।

इतने वर्षों बाद जब मैं आसपास नज़र दौड़ाता हूँ तो कहीं नीलकण्ठ नहीं दीखते। वनों में कभी–कभार दीख जाते हैं लेकिन वे देखते ही उड़ जाते हैं, वे बात तक सुनने को तैयार नहीं, देखने को तैयार नहीं। हुआ यों कि ज्यों–ज्यों हमारे मनों का राम–तत्त्व तिरोहित हुआ, नीलकण्ठ विलुप्त होते चले गये। राम कभी ईश्वर नहीं रहे, ईश्वरत्व तो हमने आरोपित कर दिया। वे तो अपनी समग्रता में सिर्फ निस्सीम मनुष्यता के महान् अस्तित्व हैं। हमने मनुष्यता खो दी, छद्म ओढ़ लिये, पाखण्ड रच लिए तो हमसे राम भी दूर हुए और नीलकण्ठ भी। नीलकण्ठ में सच्चे शिवत्व की तलाश जिस निश्चल आस्था–भाव से बूढ़ी दादी ने की, हमने उस आस्था–भाव को ही त्याग दिया। उस आस्था–भाव को त्याग देने में कोई बुराई नहीं थीं बशर्ते कि उसके विकल्प के रूप में हम कहीं उससे ऊँचा भाव गढ़ते।

हम तो चाहते हैं कि नीलकण्ठ हमारे लिए, हमारा उगला हुआ विष पीकर नीला बना रहे और राम तक हमारे पाखण्ड, छद्म और स्वार्थ की बातें पहुँचाने के बजाय यह झूठ पहुँचाये कि हम बड़े दुखी हैं, निराश हैं, तंग हैं, अंधेरे में हैं, विवश, वक़्त के मारे हैं, बेचारे हैं, बड़े अनासक्त हैं, फिर भी तुम्हारे भक्त हैं, इसलिए हे राम, हमारा उद्धार करो ! हमारी भीरुता की यह पराकाष्ठा है कि हमने अपने में विराजे राम तो विसर्जित कर दिए और नीलकण्ठ के माध्यम से उस राम तक अपनी बातें पहुंचाना चाहते हैं जिसके अस्तित्व के साक्षात् से भी डर लगता है ! क्यों चाहते हैं हम नीलकण्ठ का माध्यम? हम खुद क्यों नहीं बनना चाहते नीलकण्ठ ? हम क्यों बजाय विष पीने के, उसें उगलते हैं और अपना बिष नीलकण्ठ को पीने

के लिए मजबूर करते हैं? मुझे बड़ी दया आती है नीलकण्ठ पर। करुणा का पात्र है वह। हम अपनी सुविधा के लिए उसे जाने कब से मजबूर कर रहे हैं विष पीने को। यदि हम यह क्रूरता छोड़ देते तो बहुत संभव था कि जाने कितनी पीढ़ियों पहले नीलकण्ठ के वंशज हमारे विष के नीलेपन को तजकर धवल हो गए होते। लेकिन हम तो किसी क़ीमत पर उसे उजला नहीं देखना चाहते; चाहते यही हैं कि वह हमारे झूठ को पहुँचाने का माध्यम भर बना रहे और इसीलिए वह जब कभी दीख जाता है – हम चिल्लाने लगते हैं, नीलकण्ठ तुम नीले रहियो –

हम क्यों न सीधा संवाद करें सम से ? हममें इतना साहस नहीं कि हम राम से संवाद कर सकें, इतना भी नहीं कि उस राम को खोजें तो, जिसके लिए नीलकण्ठ से आग्रह करते हैं। इतिहास में ऐसे साहसी हुए हैं, लेकिन जाने कितनी सदियों में ! एक ऐसे ही साहसी कबीर थे जो बोले –

मोकों कहां बंदे ढूंढे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।।

इस कबीर को किसी ने माना, किसी ने धिक्कारा लेकिन जिन्होंने माना कबीर ने को वे कबीर के मर्म तक नहीं पहुंच पाए। एक दीपशिखा जागी लाकन उसका जागरण अधूरा रह गया। नीलकण्ठ–प्रेमी इस दीपशिखा के आलोक को तिरोहित करने के लिए संगठित, हों गए और बुझ गई यह ज्योति–वर्तिका।

मेरी दादी का वह सहज आस्था–भाव जिस नीलकण्ठ की आराधना करता है, वह बिलकुल भिन्न है हमारे भाव से। उसके आस्था–भाव के नीलकण्ठ बार–बार विष पीने को मजबूर नहीं हैं; वे तो शिवत्व के प्रतिरूप हैं जिन्होंने एक बार हलाहल पिया और सदैव के लिए एक महान् इच्छाशक्ति के प्रतीक बन गए। हमारे लिए नीलकण्ठ शिवत्व का प्रतीक नहीं है, वह तो हमारे छद्म को छुपानेवाला वह माध्यम है जिसमें हम बार–बार विष आरोपित करते हैं अपना, और देखना चाहते हैं उसमें गरलपायी शिव का प्रतिबिंब। यह नहीं सधेगा। दोनों चीजें नहीं सध सकतीं एक साथ। या तो वह सहज आस्था–भाव साधना होगा जो बड़ा निर्मल, निष्कलुष और बिना किसी अपेक्षा का समर्पण–भाव है जो नीलकण्ठ को शिवत्व का प्रतीक मानमकर पूजता है और उम्मीद करता है कि यह समर्पण राम तक अपनी कथा पहुँचाने का सीधा माध्यम है, या साधना होगा वह कबीर–भाव जो सारे पाखंड को त्यागकर अपने में समाए राम से सीधी बात करना चाहता है, वह राम को कहीं ढूंढने की ज़रूरत महसूस नहीं करता। हमारी मुश्किल है कि हम दोनों भाव एक–साथ साधना चाहते हैं। हम अपने छद्म, पाखंड और स्वार्थ को कायम इसे उपजे विष को नीलकंठ को मिल भी जाते है और इस तरह उसमें शिवत्व आरोपित कर राम से संवाद भी चाहते हैं। कबीर ने तो बिना किसी नीलकण्ठ के माध्यम से अपनी सहज साधना से अपने सम से संवाद स्थापित कर लिया था। हम साधना भी

नहीं करना चाहते, छद्‌मों के मोह को त्यागना भी नहीं चाहते, समर्पित आस्था–भाव भी नहीं संजोना चाहते, लेकिन राम तक ज़रूर अपनी झूठी व्यथा पहुँचाना चाहते हैं।

हमारे इस छद्‌म से, स्वार्थ से बहुत तंग आ गया है नीलकण्ठ। वह अब हमें देखना भी नहीं चाहता। कान्हा में हमारे सामने भय–भाव से हरिण खड़े रहे, डालों पर तोते बैठे टुकुर–टुकुर देखते रहे, कई तरह की चिड़ियाएँ आसपास चहचहाती रहीं, लेकिन बुजुर्ग शाल वृक्ष की फुनगी पर बैठे नीलकण्ठ ने ज्यों ही हमें देखा, तपाक् से उड़ गया। धीरे–धीरे यही हो रहा है। मनुष्य अब अकेला हो चला। उसका साथ न मौसम देते हैं, न मासूम पखेरू। जब से मनुष्य ने मासूमियत त्यागकर गुमान ओढ़ा, निश्छलता त्यागकर छल ओढ़ा, शक्ति के नाम पर शोषण को उसका पर्याय बनाया, तब से वह बेहद अकेला होता चला गया और इस भरम में वह आज भी जी रहा है कि उसके साथ तो सभी हैं। यह एकाकीपन उसे सालता नहीं, सुकून देता है। इस सुकून ने हमारे अंदर जन्मने वाले रामों को विराम दे दिया। इस भयावह सुकून की प्राप्ति के लिए हमने अपने आसपास की नैसर्गिकता ख़त्म कर ली और अब केबल निसर्ग के नाम पर कुछ कान्हा जैसे अभ्यारण्य बचे हैं, जहाँ के पशु और पक्षी भी बड़े भय से हमारी ओर देखते हैं, नीलकण्ठ नफ़रत से देखकर उड़ जाता है।

वाह रे मालिनी के तट पर बसे कण्व के पर्णकुटीरों के देश, जिसकी हरी दुर्वा–भूमि पर सिंह–शावकों, गजों और वन पखेरुओं के सान्निध्य में इस भारत के निर्माता भरत का शैशव पला, वसिष्ठ, विश्वामित्र, राम, जानकी लव और कुश के जिस देश की नियति को इन जंगलों ने रचा, वाह रे वह देश जिसके वाल्मीकि ने क्रौंच के मर्मान्तक वियोग को शब्द दे भाषा की अस्मिता को अमर कर दिया, वाह रे पंचवटियों, पर्णाश्रमों, पाण्डवों, पनिहारिनों, पनघटों, पंगडंडियों, पल्लवों और पांखियों के देश जिसकी सीमा और संस्कृति दोनों को अरण्यों की नैसर्गिकता ने रचा, उसे आज अरण्यों को खोज–खोज कर उन्हें अभ्यारण्य घोषित करना पड़ रहा है। कभी–कभी लगता है कि यदि स्मृतियां धरोहर के रूप में नहीं मिलतीं तो बड़े सुखी रहते, इनके दंश बहुत चुभते हैं।

तो जब कान्हा में नीलकण्ठ देखा तो बहुत कुछ याद आया– अम्मा, दशहरा, कबीर, अपना आज का संसार, अपना सुकून और अपनी संवेदनशून्यता।

हमें कुछ करना होगा। यदि कुछ नहीं किया तो हम गुनहगार होंगे इतिहास में कि हमने हमारी पीढ़ियों को नष्ट करने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी। हम नहीं जानते कि हम अपने इन कामों से जाने कितने हिरोशिमा और नागासाकी के ध्वंस की आधारशिलाओं को आकार दे रहे हैं। एक बड़ा विकल्प गढ़ना होगा जो हमें वह पौरुष दे कि जिसकी सामर्थ्य के बल पर हम अपने–अपने मनों में पौरुष भर राम को जन्म दे सकें। यह विकल्प हमें ताकत दे

कि हम अपने छद्‌म और पाखंडों तो त्यागें, वह दृष्टि विकसित करें जो कर्म की आरती उतारने को तत्पर दीपशिखा के रूप में प्रज्वलित है।

अतीत के गौरव अब हमारे लिए भग्नावशेष हैं। इन गौरवों की स्मृति रहे, वे प्रेरक बने रहें। लेकिन, अब समय आ गया है जब नए निर्माण के संकल्प लेने होंगे। अपनी संवादहीनता और संवेदनहीनता से छुटकारा पाना होगा। अभ्यारण्यों को सहज अरण्यों में बदलकर नए सिरे से सीमा और संस्कार दोनों सृजित करने होंगे। ऐसा हो पाएगा, क्योंकि अभी दृष्टि ज़िंदा है, मनुष्य ज़िंदा है, मिट्टी ज़िंदा है, और जब तक यह स्पंदन है, सर्जन की आस नहीं छोड़ी जा सकती।

उम्मीद करें कि शनैः शनैः नीलकण्ठ धवल होते जाएँगे। ज्यों–ज्यों हम पौरुषमय होंगे त्यों–त्यों नीलकण्ठों के पंखों पर सफेदी लौटने लगेगी। वे फिर माध्यम नहीं रहेंगे और हमें यह नहीं कहना पड़ेगा कि 'नीलकण्ठ, तुम नीले रहियो, हमरी बात राम से कहियो...'।

आए पावस के पाहुने

पावस के साथ कई पाहुने आ जाते हैं। पाहुने मेहमान होते हैं, आते हैं कुछ दिनों के लिए, गुलज़ार कर जाते हैं माहौल को, फिर चले जाते हैं, अगली पावस तक के लिए। वर्षा के पहले ग्रीष्म होती है, भीषण तपन, गर्म लू, झुलसती धूप और झुलसते प्राण, पेड़, पखेरू, पत्ते, पाँखुरी, विदग्ध तन और द्रवीभूत मन। तपन का स्वभाव है विगलन, फिर चाहे यह तपन तन में व्यापे या मन में, विगलित दोनों होते हैं। तन के विगलन से पसीना बहता है और मन के पिघलने से आँसू। जब आँखों से आँसू बहें तो मन ग्रीष्म होता है और जब ओठों पर रसीली मुस्कान बिखरे तो मन पावस।

यह नशीली मुस्कान, मन का रस से भीगना, और उसकी धरती पर बिखरी पीली रामरज का हरा हो जाना, कुम्हलाने का अचानक लहलहाने में बदल जाना, चीख का चहक में तबदील हो जाना, निस्तब्ध मौन का महकना, राख होते रूप का अचानक दहक उठना, या किसी कुरूप मांगलिक कन्या के ब्याह का अचानक मुहूर्त निकल आना, पावस के पाहुनों के आगमन की पगध्वनियों के परिणाम हैं। पावस, झुलसते सन्नाटे में डूबे वन के बीच अचानक किसी वंशी का बज उठना है। उसके पाहुने चुपचाप नहीं आते। वे गीत गाते, संगीत बिखेरते और अपने में बटोरे हुए उल्लास को बाँटने चले आते हैं।

धरती की देह पर पहली बौछार पड़ते ही हरी दूब उग आती है। इस दूब के लिए हरे मखमली कालीन का विशेषण अब उपयुक्त नहीं लगता। मुझे तो लगता है कि गाँव की किसी अल्हड़ नवयौवना ने जतन से सहेजकर रखी गई उपहार में मिली सस्ती सुर्ख़ हरी साड़ी उल्लास से पहनी और पावस के पाहुनों की अगवानी करने खड़ी हो गई। दूब मेहमान होकर भी मेहमान नहीं है। सूखी और वीरान धरती को उल्लास की पहली सौगात दूब देती है। इसी दूब का अभिवादन स्वीकार करने पावस के पाहुने चले आते हैं।

पावस का कोई एक पाहुना है ? जाने कितने हैं ! कोंपल, कदम्ब, केतकी, कोयल, मालती, मौलसिरी, मयूर, मेघ और मेंढक से लेकर हाथी के मस्तक पर बहते मद तक। ये पावस के मेहमान हैं, आते हैं अपनी–अपनी मस्ती में कोई कुहू कुहू बोलता है, कोई अपने सिमटे हुए मोरपंखिया सौन्दर्य को खोलता, नृत्य करता, अपनी प्रेयसी के आसपास डोलता है, कोई अपनी पाँखुरियों के पराग को हवाओं में घोलता है। ये सारे पाहुने रूप, रस और गंध के वे प्रतिमान हैं जो पावस को उसकी सच्ची अर्थवत्ता देते हैं, उसके सौन्दर्य को परिभाषित करते हैं, उसकी सुषमा को जाने कितनी दृश्य कविताओं के परिधान उढ़ाकर उसे नयनाभिराम नव वधूटी बना देते हैं। ये पाहुने राग और अनुराग के वे संगम हैं जिनके प्रवाह में ग्रीष्म की सारी अस्थियाँ विसर्जित हो जाती हैं, और प्राण एक नए उल्लासमय उन्मेष को लिये फिर एक नूतन देह में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

पावस के इन पाहुनों ने भारतीयता की पहचान रची। किसी भी देश में किसी भी मौसम में इतने पाहुने नहीं आते। यहाँ तो जाने कहाँ–कहाँ से, पृथ्वी के शीर्ष ध्रुव स्थलों से, भरतपुर की झील में, सारस चले आते हैं, बगुले चले आते हैं, और ऐसे अगणित पंछी चले आते हैं जिनके रंगों की सामासिक शोभा में हमारी संस्कृति का प्रतिबिंब झलकता है। पावस के ये पाहुने भारतीयता के आकाश पर रिमझिम के थमते ही इन्द्रधनुष की तरह उग आते हैं। ये पाहुने इतने हैं कि इन्हें गिनना मुश्किल है। इनका कारवाँ चला आता है, उसका छोर दिखाई नहीं देता, बस उसके चलते रहने की संगीतमय पदचाप सुनाई देती है।

पावस के इन पाहुनों का अगुआ है मेघ, जिसे कालिदास ने अमर कर दिया। कालिदास की कलम से उसने पूरे देश की परिक्रमा की। इस देश के सौन्दर्य की छटा को हर कोण से निहारा। रामगिरि से चला, आम्रकूट आया, फिर विन्ध्य की उपत्यकाओं के बीच बहती रेवा का नमन कर दशार्ण, विदिशा और निर्विन्ध्या को निहारता हुआ विशाला अवंती पहुँचा, उज्जयनी में विराजे महान् काल को अपने प्रणामों के अर्घ्य चढ़ा, वहाँ की वारांगनाओं के सौन्दर्य का पीयूष पीता, गंभीरा को पार करता, देवगिरि होते हुए चर्मण्वती को पार कर दशपुर की राह ली। यात्रा निरन्तर चलती रही। फिर जा पहुँचा कुरुक्षेत्र, वहाँ से कनखल, आगे सरस्वती और गंगा में आकंठ स्नान कर पहुँच गया शैलराज हिमालय की गोद में जहाँ मानसरोवर की छटा देखी, कैलास के दर्शन किए और अंततः अपने गंतव्य अलकापुरी में ठौर पाया और ढूँढ लिया अपने संदेशदाता यक्ष की विरहिणी पत्नी को जो अपने पति की प्रतीक्षा में मंदार के पौधे को अपने पुत्र की तरह पोस रही थी।

मंदार का वृक्ष ज्यों–ज्यों बढ़ता, उसकी व्यथा के वृन्त और लम्बे होते चले जाते। इस मेघ ने वह मंदार देखा और अंगार से राख होती एक रूपराशि, जो मेघ के संदेश की सौगात से बुझते–बुझते बच गई।

मेघ के माध्यम से कालिदास भारतीयता के सौन्दर्य को, उसकी सच्ची अस्मिता को गा गए। यही मेघ अगुआ है पावस का। यह आज भी हर पावस में देश के पोर–पोर की मिट्टी को भिगोता है, फिर यह मिट्टी चाहे पंजाब की हो, असम की हो, मध्यप्रदेश की हो या दक्षिण की। इस भीगती मिट्टी की सोंधी महक में भी कहीं कोई भिन्नता नहीं होती। यह मेघ हर जाति के आदमी और हर टाइप के आवास को भिगोता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई भी, सी, डी और आई टाइप के क्वार्टर, पुआल की झोंपड़ियाँ भी इसके जल–बिन्दुओं में भीगती हैं। इसी तरह पावस की दूब भी कोई भेद नहीं पालती। हर आँगन में पहली बौछार के साथ उग आती है। यह बात अलहदा है कि कुछ बड़े लोग जिनके सरोकार सिर्फ अपनी ही लॉन से होते हैं, एक ख़ास किस्म की मखमली दूब उगाते हैं–'वेल्वेट ग्रास'। लेकिन इस दूब का सौन्दर्य बाँधता नहीं। यह दूब तो भीषण गर्मी में भी सिंचित की जाती है, जिस गर्मी में असंख्य बेसहारा कंठ प्यासे रहते हैं, इसलिए इस वेल्वेट ग्रास को पास की निर्मल अस्मिता से जोड़ा नहीं जा

सकता। पावस का सच्चा प्रतिनिधित्व तो वह दूब ही करती है जो कंकरीली, पथरीली धरती के पोर–पोर से बड़े सहज भाव से उग आती है, जिसका नैसर्गिक हरापन वैल्वेट ग्रास के कृत्रिम हरेपन से कहीं ज़्यादा गहरा और आकर्षक होता है और जो अपनी बेतरतीब लेकिन लुभावनी भंगिमा के साथ हाथ जोड़े पावस के पाहुनों का अभिवादन स्वीकारने द्वार द्वार, आँगन–आँगन खड़ी हो जाती है।

तरह–तरह के वृक्षों में कोंपलें फूट पड़ती हैं, हल्की ललाई लिये कोमल कोंपले फुनगियों पर फूट आती हैं, थोड़ी बढ़कर हरी हो जाती हैं और वीरान ठूंठ अचानक हरियाले हो उठते हैं, जैसे किसी आवारा घूमते बेरोज़गार नवयुवक को यकायक दूल्हा बनाकर तोरण मारने अश्व पर बिठा दिया हो। पावस में ऐसे असंख्य हरियाले बन्नों की बारात सजी दिखाई देती है। जाने कितने पखेरुओं के कंठ इस बारात के वाद्य होते हैं और जाने कितनी उफान खाती नदियाँ इस बारात के आगे इतरा–इतराकर नृत्य करती चलती हैं।

पावस के इन पाहुनों के क्या कहने जो बराती भी हैं, घराती भी ! पावस की अगवानी भी करते हैं और उसके अंग भी हो जाते हैं !

बड़ी विलक्षण है प्रकृति ! निर्द्वद्व भी है, द्वन्द्वात्मक भी; सबके संग भी है लेकिन निस्संग भी। कैसी नायिका है जो भीगती रात में साँपों को लाँघते अपने प्रियतम से मिलने को आतुर भी है और घोर तिमिर में गड़गड़ाती घटाओं के बीच रूठकर बैठी भी रहती है मान किए। प्रकृति की इसी प्रकृति ने उसे चिरजीवी और अक्षुण्ण बनाया है। उसकी यह सहजता, निर्मलता और स्फटिक–सी पारदर्शिता ने उसे भयरहित किया है। वह सारी ऋतुएँ जीती और भरपूर जीती है, उनकी पीड़ा भी झेलती है और उनके उल्लास की भी सहभागिनी होती है। अधूरे मन से जीना या झेलना उसका स्वभाव नहीं। मनुष्य प्रकृति की गोद में ही अपने–आपको सँवारते आया है। जिस मनुष्य ने प्रकृति के इस स्वभाव को अपने आप में आत्मसात् कर लिया, वह सही अर्थों में जी गया और जिला भी गया इतिहास को। ऐसे मनुष्य इतिहास की धरोहर हो गए, फिर वे चाहे पंचवटी में निवास करते, दण्डकारण्य में विचरण करते राम हों, 'गीत गोविन्द' के निकुंजों में क्रीड़ा करते श्याम हों, दमकती दामिनी के बीच बरसते मेह के नीचे निस्संग भाव से गाते कबीर हों, बदरिया को थम–थमकर बरसते रहने का आग्रह करते माखनलाल हों या नीरभरी दुख की बदरी को टेरती महादेवी।

हमारे अतीत को देखें, उन चितेरों की भावभूमि को छूने की कोशिश करें तो पाएँगे कि जिन्होंने हमारी विभिन्न पहाड़ी और राजस्थानी शैलियों में बारहमासा और गीतगोविन्द के प्रसंगों पर चित्र बनाए, राग–रागिनियों को रंगों में ढाला, उन्होंने प्रकृति के रेशे–रेशे को आत्मसात् कर लिया। राधा और माधव की भंगिमाओं को उकेरते उन्होंने टहनी–टहनी, पत्ती–पत्ती, लहर–लहर और बूँद–बूँद तक उकेरी। मध्यकाल के किसी भी लघुचित्र को

उठाकर देखें, उसमें निसर्ग की शोभा का बारीक काव्यात्मक आख्यान है। साहिबदीन और निहालचंद जैसे चितेरों से लेकर मोलाराम जैसे महान् कवि और अप्रतिम चित्रकार ने प्रकृति की उस शोभा को साकार किया जिसे जाने क्यों हमारी आज की आँखें नहीं देख पातीं। गढ़वाल–शैली में जब–जब मोलाराम ने राधा रची, उसके साथ मंदार की पाँखुरी रची। राधा के पोर–पोर का सौन्दर्य और मंदार की पाँखुरी की लालिमायुक्त सुषमा ने प्रकृति की जीवंत कविता के बोलते छंद रच दिए। मुग़ल शैली में जब मंसूर ने कश्मीर के फूलों को उकेरा तो लगा जैसे चित्रों से गंध के झरने फूट पड़े। फर्क सिर्फ दृष्टि का है। हम न्हीं देख पा रहे पावस को। दृष्टि के बारे में किसी ने कहा है–

देखने के बाद जितना अनदिखा है रूप है वो,
देखना तो दृष्टि का व्यापार है, दर्शन नहीं है।

आज हम देख कहाँ रहे हैं? देखने का व्यापार कर रहे हैं। दर्शन या फिलॉसफी कोई गूढ़ चीज़ नहीं जिस पर सिर्फ विचारकों और अध्येयताओं का अधिकार हो। दर्शन तो बड़ा सहज और सभी का है, बल्कि उनके ज़्यादा करीब है जो शब्दों, अक्षरों और अर्थों के भँवरजाल में फँसे नहीं हैं। आज ज़रूरत पावस और उसके पाहुनों को देखने की नहीं है, उनके दर्शन करने की है। उस दर्शन को आत्मसात् करने की है।

मेघ की सरसता, दूब का सौजन्य, कदम्ब का सौन्दर्य, केतकी की सुवास, कोंपलों की कोमलता, कोयल की मिठास, मयूर की समर्पण–भरी थिरकन और हरियाली की वह ललक जो समग्रता में समूची मनुष्यता को अपने में समेट लेने को आतुर रहती हैं, पावस के पाहुनों के दर्शन हैं जिन्हें समो लें अपने आप में तो समाज का सारा प्रदूषण समाप्त हो जाए। पावस और उसके पाहुने आते ही हैं इसलिए कि धरती का कलुष धुल जाए, सब–कुछ स्वच्छ हो जाए, मलिनता का नामोनिशान मिट जाए। लेकिन उनके प्रस्थान के साथ ही फिर मलिनता और प्रदूषण हावी हो जाते हैं। मलिनता और प्रदूषण का यही हावी होना पावस के पाहुनों की बाध्यता बन जाता है, उन्हें बार–बार आना होता है, भले वे चाहें या न चाहें; लेकिन जब वे आते हैं, तो पूरे उल्लासमय मन से आते हैं, इस संकल्प को सँजोकर आते हैं कि वे मलिनता और प्रदूषण को जड़–मूल से मिटा देंगे। प्रदूषण और मलिनता भले उनके प्रस्थान के साथ फिर हावी होने लगें, लेकिन उनका संकल्प नहीं डिगता, उनकी जिजीविषा नहीं मरती, उनके पौरुष का क्षरण नहीं होता, बल्कि वह द्विगुणित हो उठता है।

ये पावस के पाहुने फिर आए हैं। हम पावस बीतने पर भले इन्हें विदा करें लेकिन उनसे आग्रह तो यही करें कि पाहुनो, फिर आना, ज़रूर आना ! हम कोशिश करेंगे कि तुम्हारा सिर्फ आतिथ्य हो, तुम्हें हमारे प्रदूषण और मलिनता को मेटने के लिए श्रम न करना पड़े। तुम हमारे वंदनीय और पूजनीय अतिथि–भर रहो, हमारी प्रेरणा के दीप–भर बने रहो, तुम्हें प्रदूषण

के अंधकार से जूझने की कोई ज़रूरत नहीं। मेरा देश तो पाहुनों को पाकर ही धन्य होता आया है।

सर्जन फिर विसर्जन या फिर सर्जन

यह कैसा निरंतर विसर्जन है ? इतना निरंतर कि सर्जन होता भी नहीं पूरा और विसर्जन की तैयारी शुरू हो जाती है। इतनी तीव्रता है विसर्जन की कि लोग फेंकने को विसर्जन कहने लगे। बड़ी तेजी से यह विसर्जन जारी है। तट भरे पड़े हैं, नदी सराबोर है, पानी नहीं दीखता, प्रवाह नहीं दीखता, सिर्फ विसर्जित अवशेष ही दिखाई देते हैं।

ऐसा नहीं हुआ पहले। विसर्जन पहले भी होते रहे, लेकिन वे सारे विसर्जन बड़े, रचनात्मक थे। विसर्जन का उद्देश्य विसर्जित होने वाले सर्जन से, उससे कहीं बड़े सर्जन के निर्माण के संकल्प की भावना के साथ होता था। एक नए निर्माण के उत्साह की आकांक्षा के साथ पुराने निर्माण का विसर्जन होता था। लेकिन आज का यह विसर्जन बड़ा दहला देनेवाला है।

हम गढ़ने के नाम पर अधूरे शिल्प गढ़ते है, बड़ी तत्परता से गढ़ते हैं और उन्हें तुरंत विसर्जित कर देते हैं। हमारी सारी कर्मशक्ति और ऊर्जा का अपव्यय हो रहा है; हासिल कुछ नहीं हो रहा।

हम खँडहरों के बीच गुज़ारा कर रहे हैं। खिसकती ईटों को सहेज देते हैं और हर मौसम का सामना कर लेते हैं। सोचते हैं कुछ नया बनाएँ, लेकिन नया निर्माण आरम्भ होता है, थोड़ा होता है और विसर्जित कर दिया जाता है, खंडहर फिर अपने बीच हमें खींच लेते हैं। खंडहरों से मोह भी नहीं छूट पा रहा और न ही ऐसी इच्छाशक्ति जन्म पा रही है जो इन खँडहरों को पूरी तरह तोड़कर कोई नया निर्माण कर सके, ठोस और स्थायी निर्माण।

ऐसा क्यों है? इसलिए कि हम बेहद तदर्थवादी हैं। हम चाहते हैं बस अपने–अपने बसेरों को जैसे–तैसे बचा लिया जाए, उन्हें ही सँवार लिया जाए, आज का दिन बीत जाए अच्छा, कल फिर देखा जाएगा; या जो कुछ कल देखना है उसे भी आज ही देख लो। हम बेहद व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी और अपने–अपने सीमित घरौंदों में जीनेवाले वे लोग हैं जो विश्व–संस्कृति और विश्व–कुटुंब की बातें करते हैं। हमारा अपना कोई व्यक्तित्व नहीं, दूसरों के व्यक्तित्व की खामियों को तलाशने में पूरा समय जाया करते हैं।

तो फिर स्थायी निर्माण कैसे हो ? निर्माण यों ही नहीं होता। निर्माण एकता माँगता है, संकल्प–शक्ति चाहता हैं, उर्जा के अक्षय स्रोतों का भण्डार चाहता है, मोहत्याग चाहता है, एक नैसर्गिक स्वतंत्रता चाहता है। चाहता है कि नींव पहले भरी जाए, कलश बनने की चाहत किसी में न हो। निर्माण, कलश–कामनावाले कापुरुषों का पहले ध्वंस चाहता है। इसलिए कोई भी स्थायी निर्माण तब तक संभव नहीं जब तक कलश–कामना करनेवाले अकर्मण्य महत्वाकांक्षियों की भीड़ है। इस भीड़ का छँट जाना ज़रूरी है, आवश्यक है इसे खत्म करना।

बिना इस भीड़ के खत्म हुए कोई निर्माण हो ही नहीं सकता कलश–कामना करनेवाले आज कतई प्रासंगिक नहीं हैं। प्रासंगिक तो वे हैं जिन्हें कोई कामना नहीं। जिनकी कोई कामना नहीं, उनकी पहली कामना यह होनी चाहिए कि वे इन कलश – कामनावालों को छाँट दें. और खुद निर्माण की अदम्य इच्छाशक्ति के साथ अपने हाथों में कुदली लेकर, निर्माण के औज़ार लेकर सामने आएँ।

एक बड़ी मुश्किल यह है कि ऐसे जो कामनाहीन लोग हैं, उन्हें हमारे आभिजात्य ने जान–बूझकर पीछे धकेल दिया, उन्हें समझा दिया कि निर्माण में तुम्हारी कोई भूमिका नहीं, जरूरत नहीं, तुम किसी तरह गुज़ारा करो उम्र का और गुजर जाओ, तुम्हारे पूर्वजन्मों के पाप तुम्हें इजाज़त नहीं देते कि तुम निर्माण–जैसा पवित्र कार्य करो। निर्माण की बागडोर उन्होंने हाथ में ले ली जो या तो कोई नया निर्माण नहीं चाहते, या चाहते हैं तो इस शर्त पर कि नए निर्माण के कलश के रूप में वे ही सुशोभित हों।

पहले के विसर्जनों से कोई सीख नहीं ली गई। राम ने जब रावण की लंका को ध्वस्त किया तो उसके पूर्व वे अपने पुरुषार्थ और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करते चले, रोपते गए पग–पग पर बंधुत्व, कर्मण्यता, स्नेह, सौहार्द्र, समानता के बीज; और जब रावण के रूप में दानवता के मूल्यों को परास्त कर वे लंका से लौटे तो पूरे रास्ते उन्हें इन रोपे गए बीजों के लहलहाते पल्लवित वृक्ष स्वागत करते दिखाई दिए; और जब अपने गृहद्वार पर उतरे तो मानवता के उत्कृष्टतम मूल्यों की दीपशिखाएँ अपनी आरती में सँजोऐ समूची अयोध्या उनके अभिनंदन को तत्पर खड़ी मिली। राम ने दानवीय मूल्यों के विसर्जन के पूर्व अपने पोरुष से, मानवीय मूल्यों की आधारशिला अयोध्या में उसी पल रख दी थी जब अपनी विमाता के वचन को निबाहने के लिए वे राजपुरुष से एक क्षण की बिना देर किए वल्कल पहनकर वनपुत्र बन, दंडकारण्य के कँटीले पथरीले पथों पर निकल पड़े। राम के इस विसर्जन के पूर्व के सृजन से हमने सीख नहीं ली।

इसी तरह उस महान् ऐतिहासिक कृष्ण से भी कोई सीख नहीं ली, जिसने निर्मम कंसत्व के विसर्जन के पूर्व वृंदावन को अपनी रसभरी रचना–सृष्टि से सराबोर कर दिया, जिसने युमना के तीरे पर कदंब और तमाल वृक्षों के तले एक शीतल कुंज–संस्कृति रची, जिसका मर्म आज भी हर मन को अराधना के राधा–भाव में भिगोता है, जिसने महाभारत के पूर्व ही निष्काम कर्मयोग के संस्कार रोपकर एक नए सर्जन का सूत्रपात किया और फिर एक महान् जयघोष के साथ अर्जुन के माध्यम से कौरवों के रूप में बिखरे मानवीय प्रदूषण को एक पवित्र शुद्ध गंगा में विसर्जित कर दिया।

कर्मकांड के विसर्जन के पूर्व राजपथ त्यागकर महावीर और बुद्ध वनपथों और जनपथों की ओर मुड़े। वहाँ उन्होंने अपनी ज्ञानसाधना के बल पर सत्य और अहिंसा के विमल मूल्य

लोकभाषा में स्थापित पहले किए, फिर यह स्थापना एक उद्यम प्रवाह बनी जिसमें सारा कर्मकांडी आडम्बर अपने–आप विसर्जित हो गया। लेकिन इस महान सर्जन से भी हम कुछ नहीं सीख पाए।

ये सारे रचना–पुरुष हमारी धरोहर के उत्कृष्ट रचयिता, बजाय महान सर्जकों के रूप में भगवान बनाकर पूजे जाने लगे। उनके कर्म की प्रेरणा मालाओं में बंदी बना दो गई। उनके स्वर घंटियों और घड़ियालों के तुमुल निनाद में खो गए और उनका स्वरूप पाषाणी शिल्पों में विलीन हो गया और इस तरह हमने आकार भले सँजो लिए, लेकिन आकाश खो दिया, हम नहीं जानते कि अनजाने में हमने उन असीम आकाशों को विसर्जित कर दिया, जिनके क्षितिजों से हमारे विकास की संभावनाओं के असंख्य सूरज फूट सकते थे।

अब करें क्या ? क्या बाट जोहते रहें समय की कि कभी–न–कभी ऐसा समय आएगा जब निर्माण हो जाएगा और हम सब मुक्ति पा लेंगे, इस तदर्थवाद के अस्थायीपन की पीड़ा से ? समय की बाट जोहते–जोहते तो यह समय आ गया कि अब हाथ बजाय कुछ नया गढ़ने के खंडहरों की ईंटों सहेजने लगे। नहीं, ऐसा समय इस तरह नहीं आएगा। अपने–आप कुछ होगा नहीं। कोई जादू नहीं होगा, चमत्कार नहीं होगा, स्वर्ग से कोई विश्वकर्मा नहीं उतरेगा धरती पर। अब तो हरेक को विश्वकर्मा बनना होगा। करना सिर्फ यही होगा कि हम करने के रास्ते पर अग्रसर हो लें। यह भी ज़रूरी नहीं कि संयोगों की राह देखी जाए, हम प्रतीक्षा करने लगें एकता की, संकल्पशक्ति के उदय की, ऊर्जा के भंडारों के भरे जाने की, मोह के त्यागे जाने की, नैसर्गिक स्वतंत्रता के आगमन की। संयोग राह देखने से कभी नहीं जुड़ते, वे जुड़ते तब हैं जब राह पर सफर शुरू हो जाता है। सफ़र शुरू होगा तो ये सब आने–आप जुड़ जाएँगे। आज सबसे महत्वपूर्ण कर्मठता है। एक सवाल यह भी किया जा सकता है कि क्या कोई कर्म हो ही नहीं रहा ? यदि कर्म हो रहा तो फिर विकास कैसे हो रहा है ? उपलब्धियाँ कैसे लिखी जा रही हैं? यदि कर्म नहीं हो रहा तो फिर क्या कोई शून्यता व्यापी है ? शून्यता तो व्यापी दीखती नहीं, चारों ओर तो कोलाहल है, फिर कैसे कहें कि राहें सूनी हैं, कर्मपथ पर कोई अग्रसर नहीं हो रहा ? सही सवाल है।

कर्म हो रहा है, कोलाहल हो रहा है, राहें भी सूनी नहीं हैं, बल्कि लोग दौड़ रहे हैं उन पर, लेकिन जिन राहों पर लोग दौड़ रहे हैं, वे राहें ज़रूर हैं लेकिन कर्मपथ नहीं, और जो दौड़ रहे हैं कोलाहल करते हुए वे कर्मपुरुष नहीं, कलश–कामनी पुरुष हैं। विकास हो रहा है, लेकिन उदार मनुष्यता के ध्वंस पर। यह विकास जिन धरातलों पर हो रहा है वे धरातल पंकिल हैं अपने–अपने स्वार्थों के पंक से। जो उपलब्धियाँ लिखी जा रही हैं वे निजी ज़्यादा हैं, सामाजिक कम, और जो सच्ची उपलब्धियाँ हैं या विकास के शिखर हैं, वे अपवाद रूप में कुछ गिने–चुने कर्म की देन हैं।

हम अभी तक अपवाद ही भुनाते आए। अपवाद–रूप राम से रहीम तक, कृष्ण से कबीर तक, नानक से निराला तक, मीरा से महादेवी तक हमने किया क्या है?' सिर्फ इन अपवादों को गिनाकर अपनी श्रेष्ठतता साबित करने की कोशिश की।

इन अपवादों ने कभी नहीं कहा कि हम जैसे बनो। हम प्रचार करने लगे कि तुम जैसे बन तो नहीं सकते, लेकिन हम तुम्हें पूज ज़रूर देंगे ताकि तुम आशीर्वाद देकर हमें बिना कुछ किए वह सब सौंप दो जो हम अपनी कर्मण्यता से पा नहीं सकते। आज के ये सारे आडम्बर इन महान अपवादों को पूजने के नाम पर नकारने की कोशिशें हैं ताकि हमारी अकर्मण्यता छुपी रहे।

एक अंतहीन–सा सिलसिला है, इन विश्लेषणों का। विश्लेषण भी हमने ऊब गए। ये सारे विश्लेषण अब हमें विशेषण सौपने लगे– कर्महीन, दिशाहीन, स्वार्थी, लोलुप और न जाने क्या–क्या!

ये विशेषण हमारे अस्तित्व से कैसे पृथक हो पायें ? – इस प्रश्न का उत्तर सिर्फ हमारी मूक कर्मण्यता देगी।

बेहद ज़रूरी है विसर्जन, लेकिन किसका ? – यह तय करें और फिर पग–पग पर निर्माण के बीज रोपते हुए तट की ओर बढ़ चलें। गंगा से नर्मदा तक और कावेरी सें यमुना तक की लहरें बहुत ऊंची उठ–उठकर आतुर हो रही हैं, देखने इन बीजों के अंकुरण को। ऐसा भी होगा कि जब ये बीज अँकुराकर लहलहाने लगेंगे तो इन नदियों की लहरें अपने आप समो लेंगी अवशेषों को। हमें विसर्जन के लिए धार के बीच तक भी जाना नहीं पड़ेगा।

एकान्त उत्सव

उत्सव, सच्चे उत्सव–समूह में नहीं होते। समूह में जो मनता है वह तो उल्लास है जो बहुतों के एक–साथ जुड़ जाने से उत्पन्न आवेग से फूट पड़ता है। यह उल्लास थिरकन रच देता है. एक लय में पाँवों की गति को हाथ की भंगिमा को और चेहरे की मुस्कान को बाँध देता है। एक उल्लास के फूटने, बहने और समूह के बीच बिखर– बिखरकर बँध जाने को हम उत्सव कह देते हैं। उत्सव समूह के बीच से फूटे उल्लास की सजधज–भरी औपचारिक अभिव्यक्ति है, जो दीखती है, लुभाती है, विभोर करती है और कुछ मीठी स्मृतियाँ सौंपकर विदा हो जाती है।

उल्लासमय सामूहिक उत्साह की यह परिणति क्षणिक होती है। एक ज्वार आया और चला गया; छोड़ गया अपनी मीठी स्मृतियाँ गीली रेत पर; एक उफान आया, कुछ छलका गया; फिर जब थमा तो बर्तन की सतह पर शेष रह गई एक ठंडे द्रव की परत। एक अलाव धधका, दूर–दूर तक पीली आँच दिखाई पड़ी और थोड़े अंतराल के बाद शेष रह गई गरम राख. गीली रेत और गरम राख। गीली रेत और गरम राख उत्सवों के मना लिए जाने की गवाही है। ये समूह के बीच से जन्मे उत्सव सिर्फ यही तो छोड़ जाते हैं हमारे लिए, बाक़ी तो वे अपने साथ लिये जाते हैं क्योंकि उन्हें तो कई जगह, कई समूहों के बीच बार–बार मनते ही रहना है। थोड़ी देर बीच में रहकर अकेले छोड़ जाना ऐसे उत्सवों की आदत है।

फिर सच्चे उत्सव क्या हैं? सच्चे उत्सव की आत्मा तो निस्संग एकाकिता है। कोई साथ न हो, सजधज की कोई औपचारिकता न हो, अपने साथ केवल अपना निपट अकेलापन हो, बंधनहीनता हो तो फिर सच्चा उत्सव हम मनाते हैं। इस उत्सव में उल्लास की साझीदारी कतई ज़रूरी नहीं। आँखें बहती रहें अपने उत्साह में तो उत्सव मनता है। मन में ज्वार ही ज्वार आएँ, जिनमें रेत का अस्तिव ही समाप्त हो जाए, उफान आए तो फिर छलकने की निरन्तरता भंग न हो और अलाव धधके तो ऐसा कि वह राख के अवशेष न छोड़े. यही सार्थक उत्सव है।

अशेष होकर अवशेष न छोड़ने से बड़ा उत्सव कोई दूसरा नहीं। सबसे बड़ा उत्सव तो अशेष हो जाने का है। अशेष हो जाओ और देह के हर अस्तित्व को भस्म हो जाने दो। अवशेषों को विसर्जित हो जाने दो और कुछ भी शेष न रहने दो–कोई बंधन, कोई चिह्न, कोई बार–बार अपनी तरफ़ खींचनेवाली मोहिनी।

कहेंगे कि यह उत्सव तो मरण है, मरण कोई उत्सव है ? है यह उत्सव और कई के लिए रहा, फिर वे चाहे शंकर हों, विवेकानन्द हों या पुराने समय में बुद्ध हों। फर्क यही है कि हम जीवन की परिणति मरण में देखते हैं जबकि बुद्ध, शंकर या विवेकानन्द जीवन की

परिणति मरण में नहीं देखते थे। उनके लिए तो जीवन की हर साँस उत्सव रही और वह आँच भी उत्सव रही जिसके बीच उनकी देह तिरोहित हो गई। यदि जीवन और मरण के बीच की सीमारेखा का तनाव जो हर पल हमें घेरे रहता है वह दूर हो जाए तो फिर हर पल उत्सव है।

जीवन और मरण दोनों शाश्वत सच हैं तो फिर इस सच को स्वीकारने में हिचक क्यों? क्यों इस हिचक के कारण हम उत्सव को समूह से जोड़ें, क्षणिक उल्लास से जोड़ें, उत्सव के बाद उपजनेवाली एकाकिता के दुःख से जोड़ें ?

हर साँस उत्सव क्यों न मनाए ? क्यों एकाकीपन ही इस साँस के प्राण न बने ? क्यों हर स्पंदन उत्सव में डूबा हुआ न हो ?

एकाकीपन यदि उत्सव खत्म होने के बाद होने वाले दुःख के बजाय निस्संगता के सुख से जुड़ जाए तो फिर दुःख जैसी कोई चीज़ ही न हो।

उल्लास के थमने से, भंग होने से ही तो दुःख जन्मता है। यदि उल्लास के प्रवाह को अपने एकान्त में जीवंत रखने की साधना कर लें, अभ्यास कर लें तो फिर वह कौन–सा पल है जो उत्सवहीन हो ?

इसलिए सच्चा उत्सव तो वे मनाते हैं जो समूह में जीते ज़रूर हैं लेकिन जो उल्लास के उपजने की बाट नहीं जोहते; या वे मनाते हैं जो निपट अकेले रहते हैं, जीवन और मरण के बीच की कोई सीमारेखा उनके मानस में होती ही नहीं।

संपूर्ण एकान्त में मनाया जाने वाला उत्सव फिर प्रतिबिंबों में झलकता है। यह अद्भुत उत्सव है। समूह से दूर अपनी पूरी निस्संगता में एक संन्यासी का उत्सव मनता है– नर्मदा, गोदावरी और गंगा के एकाकी घाटों पर। मन में उत्सव है जो देह से नहीं फूटता, मगर फूटता दिखाई देता है तरंगों में, पल–पल छलकती लहरों में, हल्की–हल्की उनकी जलध्वनियों में।

मन में अनुराग के या विराग के राग हों लेकिन जलतरंग तो इन एकाकी घाटों से सटी जल–सतह पर सुनाई देगी। एकान्त के ये उत्सव बड़े अनूठे हैं क्योंकि इन्हीं उत्सवों में मन बड़े एकाग्र भाव से दृढ़ संकल्प लेता है।

लगता है ऐसी ही एकान्त शान्ति में शंकर ने रेवा के तट पर ओंकारेश्वर में संकल्प ले लिया होगा, विवेकानन्द भी कभी मेघना के तट पर लहरों से दूर डूब रहे होंगे उत्सव में, और सदियों पहले अनोम नदी के किनारे बुद्ध ने भी ऐसा उत्सव मनाया होगा और फिर एकनिष्ठ

भाव के साथ पूरे समूह के बीच अपने–अपने संकल्प की कभी न बुझनेवाली दीपशिखा को प्रज्वलित कर निकल पड़े होंगे अपने पूरे परिवेश को आलोकित करने।

यही है सार्थक उत्सव जो समूह में न मने, एकान्त में मने और जन्म दे किसी ऐसे संकल्प को जिसकी पूर्ति के लिए देह भले विलीन हो जाए लेकिन जब तक जीवन रहे, हर स्पंदन उत्सव मनाने में लीन रहे और जीवन के बाद समूचा समाज, उसके भविष्य की पीढ़ियाँ उस संकल्प से प्रेरित हो, तत्पर हो उठें अपनी अस्मिता को बदलने के लिए, नया गढ़ने के लिए, समूह के क्षणिक उत्सवों के कारण बने अस्थायी निर्माणों को तोड़ने के लिए।

सार्थक उत्सव निस्संग एकान्त की कोख से जन्मने वाले दृढ़ संकल्प का पर्याय है।

हम आदी हो गए समूह में उत्सव मनाने के। हम उल्लास की खोज क्षणिक उत्सवों की जगमग में करने लगे, बँधने लगे उनकी लुभावनी औपचारिकताओं में और भूलने लगे वह सहज उत्साह जो हरेक में स्वतः जन्मता है और सच्चे उत्सव की आत्मा होता है।

दीप जलाना वंदनीय नहीं है, वंदनीय तो है अपने–आपको प्रकाशमान कर लेना। केशरिया जल से भीगना और भिगोना, वर्षभर की मलिनता को कुछ समय में दूर कर लेना कोई सच्चा यत्न नहीं है, सच्चा यत्न तो संबंधों की केशरिया क्यारी को सतत सींचते रहने का है; रावण दहन कर राम की जययात्रा का स्मरण कर लेना, दानवता पर विजय पाना नहीं है. सार्थक विजय तो तब है जब मानस की अयोध्या में संघर्ष के ऐसे दीपकमल खिल उठें जो कभी मुरझाएँ नहीं।

यह सब उत्सवकर्मिता है जबकि हम उत्सवधर्मी हैं। कर्म, मर्म है धर्म का, यदि यह मर्म मर जाए तो फिर जो निष्प्राण देह शेष रहती है, वही देह धर्मिता कहलाती है जो मिश्र की उन हजारों वर्ष पुरानी ममियों की तरह है जिन पर आभूषण सजे हैं, सजीले परिधान लिपटे हैं, जिन्हें घेरे भव्य पिरामिड खड़े हैं लेकिन जिनके ओठों पर बोल नहीं, देह में कोई गति नहीं, जीवन ही नहीं।

ऐसी धर्मिता की ममी को अपने शिल्प में घेरे खड़े जो पिरामिड हैं वही उत्सव आज के उत्सव हैं, जिनकी कोई अर्थवत्ता नहीं सिवाय इसके कि वे अतीत के किसी मोहक पृष्ठ की सुनहरी इबारत की एक झलक–भर दिखा दें।

इस धर्मिता से मुक्ति चाहिए। कर्म के मर्म से जुड़नेवाली जागृति चाहिए। यह जागृति एकान्त में लिये गए विचारवान और दृढ संकल्प से ही आएगी।

सोए समूह से ज़्यादा श्रेष्ठ संन्यासी हैं क्योंकि बुद्ध और शंकर के उत्सव कभी गीली रेत और गरम राख के अवशेष नहीं छोड़ते।

आँखों में आग आँज ली

हाँ, यह सही है। आँखों में काजल आँजने की बात पुरानी हो गई। आज तो आँखों में अंजन आग का लगता है। अटपटी बात है, कोई क्यों आँजेगा आँखों में आग? कोई क्यों चाहेगा दृष्टि को खोना, एक असहनीय यातना को भुगतना ? मुग़लिया दौर के किस्से इतिहास में पढ़े हैं जब बाग़ियों की आँखों में गरम सलाखें दाग दी जाती थीं और वे पीड़ा से छटपटाते छोड़ दिए जाते थे। आँखों की रौशनी चली जाती थी और सारा जीवन घनेरे तिमिर के अथाह सागर में डूब जाया करता था। लेकिन आज आँखों में आग को ही आँजा जा रहा है। हरेक आतुर है अपनी आँखों में आग को लगाने। आग बेचनेवालों की दूकानों पर भारी भीड़ है और काजल की दुकानें सूनीं। यों जलती हुई आग को बेचने की दूकानें नहीं हुआ करतीं, लेकिन ऐसी दुकानें तो हैं जहाँ किसी दूसरे रूप में आग बिकती है। इस आग की ख़रीद–फरोख्त जारी है। ये दूकानें भी आम दूकानों की तरह नहीं हैं। इन दूकानों पर कुछ दूसरे क़िस्म के साइनबोर्ड लगे हैं–बड़े लुभावने साइनबोर्ड कि आदमी खुद ब खुद खिंचा चला आता है। इन दूकानों पर विज्ञापनों की मोहक भाषा है, धाराप्रवाह शब्द हैं, तरह–तरह के रंगीन पोस्टर हैं. बैनर हैं जो आकृष्ट करते हैं। इन सबसे आकृष्ट होकर व्यक्ति दूकान में चला जाता है और वहाँ बड़ी खूबसूरती के साथ उसकी आँखों में इस आग का अंजन आँज दिया जाता है। आग की अलग–अलग क़िस्में हैं। इन क़िस्मों के नाम हैं–साम्प्रदायिकता, जातिभेद, वर्गभेद, अलगाववाद और भी न जाने क्या–क्या ! ये क़िस्में बढ़ती जा रही हैं, इनमें इज़ाफ़ा होता जा रहा है और इन दूकानों के आगे भीड़ बढ़ती जा रही है। कोई पूरी सामर्थ्य से प्रयास नहीं करता कि इन दूकानों को बंद कराया जाए। जब बंद का आह्वान होता है तो काजल की दूकानें ज़बरदस्ती बंद करा दी जाती हैं और इन दूकानों पर होने वाली आग की बिक्री उसी तरह बंद के दिन दो–गुनी हो जाती है जैसे होली पर शराब की दूकानों की।

काजल भले काला हो लेकिन जब वह आँखों में आँजा जाता है तो आँखें ठंडक से भरपूर हो जाती हैं, पुतलियाँ इस कालिख से उजल जाती हैं, दृष्टि बड़ी निर्मल और साफ़ हो जाती है; लेकिन आग का रंग भले लुभावना लगे, वह जब आँखों में समा जाती है तो आँखों के उद्देश्य ही ख़त्म हो जाते हैं, दृष्टि की विमलता छिन जाती है, एक क्रूरता का पशुभाव इन आँखों में जाग जाता है, आदमी समझता है कि वह दृष्टिवान बन गया, लेकिन उससे बड़ा अंधा कोई दूसरा नहीं होता। इन दूकानों पर वास्तव में दृष्टि नहीं अंधत्व बेचा जाता है। पहले कहा जाता था कि फलाँ ने फलाँ क़िस्म का चश्मा चढ़ा रखा है। अब चश्मों की भी ज़रूरत नहीं रही। चश्मे पुराने पड़ गए, रंगीन चश्मों की दूकानें बंद हो चलीं। अब तो यह परिष्कृत आग ही आँखों में आँज दी जाती है जिसमें पुतलियाँ आग की किस्म के अनुरूप दृश्य देखने लगती हैं। चश्मों के रहते आँखों की पुतलियों की मौलिकता सुरक्षित थी, अब तो वह भी छीन ली गई।

कैसे सज गईं ये आग की दूकानें ? कैसे बंद हो गए काजल के बाज़ार ? देखते–देखते कैसा बदलाव आया कि रंग बँट गए, ईश्वर बँट गया, एकता बँट गई, एक मनुष्यता थी जो खंड–खंड हो गई, क्या इस मर्मान्तक विभाजन के कोई कारण खोजेगा ? शायद कोई नहीं, क्योंकि कारण खोजनेवाले खुद आग बेचने की दूकानें लगाए बैठे हैं।

मगर खोजना तो कारणों को पड़ेगा ही। बिना इन कारणों को खोजे इस बँटवारे की प्रक्रिया को बंद नहीं किया जा सकता। बिना इन कारणों की तलाश किए आग की ये दूकानें बंद नहीं हो सकतीं। इन दूकानों को जल्द–जल्द बंद होना ज़रूरी है क्योंकि इन दूकानों के रहते मनुष्यता और भाईचारे संकट में पड़ गए। आँखों में जिसने यह आग आँज ली वह खुद संकट में फँसा हुआ है और इस भ्रम में है कि वह दूसरों को संकट–मुक्त करने में सक्षम है।

इन आग की दूकानों के मूल में है हमारा संकीर्ण सोच जो यह भ्रांति पाले हुए है कि वह बहुत उदार और सहिष्णु है। इन दूकानों के सजने का कारण वह सुविधाभोगी प्रवृत्ति है जिसके पाल लेने पर हम बहुत अच्छा सोच सकते हैं, कह सकते हैं; लेकिन जिसमें कुछ न करना या ऐसी ही अकर्मण्यता के बलबूते पर बहुत–कुछ हासिल कर लेना छुपा होता है। इन दूकानों के चलते रहने की वजह है हमारी बेहद छोटी वैयक्तिकता जो सिर्फ़ अपने लिए सब कुछ चाहती है–समाज और देश के नाम पर, ऐसी हीन मानसिकता के सामने जो अपने बहुत बड़े होने का दंभ भरती है, देश बहुत बौना हो जाता है।

यही कारण रचते हैं छद्‌म, छल, सांप्रदायिकता, अलगाववाद, हिंसा, जातिवाद, वर्ण–भेद और तरह–तरह के अनगिनत पाखंड।

अपना यह देश जिसकी धरोहर के हम गान करते नहीं अघाते, आज धाराओं का देश हो गया। एक सागर था जिसमें जाने कितनी धाराएँ समाईं, वह सागर पतली–पतली असंख्य धाराओं में विभक्त हो सूख गया। गंगा, कावेरी और नर्मदा अब श्लोकों में शेष हैं; उनकी मौलिकता के सहज प्रवाह को सोख लिया इस सोच ने। सवाल यह भी है कि में खोए यह मानसिकता जन्मी क्यों ? शायद इसलिए कि हम अतीत की आत्ममुग्धता रहे, कर्मण्यता लुप्त होती गई; और जब पराधीनता के काँटों ने इस सुषुप्त देह को लहूलुहान करना शुरू किया तो एक अर्से तक तो चुभन को भी स्वीकार किया और जब स्वतंत्र हुए तो यह देह जैसे ही शूल–पीड़ा से मुक्त हुई, पुनः सुषुप्त होती चली गई। यह सुविधाजनक सुषुप्तता भी कायम रह सके और हम कर्मण्य भी साबित हो सकें, इसलिए ये कारण रच लिये गए।

ऐसा नहीं है कि सारे के सारे इसी मानसिकता के पाश में बँधे हैं, लेकिन बहुसंख्यक वही हैं। देश की अस्मिता अल्पमत वाले कर्मपुरुषों के बल पर टिकी है जिनके सच्चे सरोकार सिर्फ़ कर्म से हैं, जिनके कोई मोह नहीं हैं–लिप्सा के, यश के, पद के, पीठ के या इतिहास में अपनी जगह सुरक्षित रखने के। आज का संकट पारदर्शिता का संकट है जिसे भवानी भाई

बहुत पहले कह गए, "जिस तरह तू बोलता है उस तरह तू लिख !" लिखने, बोलने, रहने, सोचने, कहने और करने में एकरूपता का नाम पारदर्शिता है। वह संकट जब दूर हो जाएगा तो कारण भी अपने–आप ख़त्म हो जाएँगे, ये आग की दूकानें अपने–आप ख़त्म हो जाएँगी, काजल फिर आँजा जाने लगेगा आँखों में–सौहार्द्र का, बंधुत्व का, एकता का।

एक मुहावरा काजल की कोठरी का भी है। जो उस कोठरी में जाता है उसे कालिख लग जाती है। यह मुहावरा भी शायद उन्होंने रचा जिन्हें काजल की ठंडक और उसके उजलेपन से दुराव था। काजल तो आँखों में लगाने के लिए होता है; वह कोयले की तरह गोदाम या कोठरी में रखे जाने के लिए नहीं होता। काजल घी से बनता है, घी में डूबी हुई वर्तिका के धूम्र से असली काजल बनाया जाता है इसलिए काजल के मूल में रहती है घी की ठंडक और वर्तिका की उजास। काजल वास्तव में स्निग्ध ज्योति की ऐसी तरलता है जिसका रूप भले काला हो लेकिन मन बड़ा उजला है, और चाहिए भी यही। हम इस वर्ण पर केंद्रित हो जाते हैं, मन पर नहीं, इसलिए आग का दमकता रंग खींच ले जाता है, और काजल का रूप मोह नहीं पाता। दादा माखनलाल की पंक्ति हैं– "बीजुरी काजल आँज रही"। इस पंक्ति में काजल की पूरी सोद्देश्यता छुपी है। बिजली का दमकता रंग जब कोई दुराव इस काजल के बारे में नहीं पाले और खुद बिजली उसे आँखों में आँज देने के लिए विह्वल हो उठे तो मानना चाहिए कि काजल की उजास को दामिनी की दमक प्रणाम करती है।

काजल जैसा भी है वह मुक्त है आडम्बर से; उसने कभी ओढ़ने की कोशिश नहीं की। उसने अपने गुण नहीं खोए, अपनी अर्थवत्ता कायम रखी और कभी किसी आलोचना से परहेज़ नहीं रखा। नयनों की कोर में सजा, जाने कितनी उर्वशियाँ और रम्भाएँ रिझाती रहीं ऋषियों को, देवताओं को, लेकिन काजल को प्रतिदान तो तिरस्कार का ही मिला। काजल का उपभोग तो हमेशा हुआ, उसकी स्तुति कभी नहीं हुई। उसका उपयोग कर लिया लेकिन उसे किसी ने उपकृत नहीं किया। सदियों से काजल की यही नियति रही और आज भी उसके साथ यही हो रहा है कि उसकी दूकानें बंद हो रही हैं; उसे आँजना बंद कर दिया आँखों ने और उसकी जगह आग ने ले ली।

काजल भी बड़ा अभागा भगीरथ है जिसके भाग्य में अपने सौभाग्य की गंगा का अवतरण नहीं लिखा।

हम कब तक उसे नहीं पहचानेंगे ? अब समय आ गया है जब काजल की महत्ता जाननी होगी। अंधत्व से बचने के लिए, विघटन से उबरने के लिए, अपनी दृष्टि की सामर्थ्य को सुरक्षित रखने के लिए काजल का आँखों में आँजना बेहद ज़रूरी हो गया है।

काली पुतलियों में जब यह काला काजल आँज लिया जाएगा तो ये पुतलियाँ उजल जाएँगी, एक दृष्टि जन्म जाएगी, पूरी उजास के साथ, यह उजास एकता की होगी, बंधुत्व की होगी, सौहार्द्र और सहिष्णुता की होगी।

भीड़ बहुत है बाज़ारों में ! उम्मीद करें कि वह दृश्य सामने आए जब आग की दूकानों पर ताले लग जाएँ, हटा दी जाएँ वे बाज़ारों से और हम सब खड़े हो जाएँ उन दूकानों के सामने जिन पर उजला काजल बिक रहा हो।

हमारे सामाजिक परिदृश्य में मुकुट, मस्तक और मुक्ताहार

इतिहास की गवाही है कि मस्तक बदलते रहे मगर मुकुट नहीं बदले। मुकुट कभी किसी मस्तक पर, फिर उस मस्तक के धराशायी हो जाने पर किसी दूसरे मस्तक की शोभा बढ़ाता रहा और इतिहास की अविराम यात्रा जारी रही। मगर इतिहास गढ़नेवाले मुकुट नहीं रहे, मस्तक रहे। जिस मस्तक ने मुकुट पाया उसने अपने कृतित्व से इतिहास रचा – ऐसा इतिहास, जिसकी परिधि में उसका समकालीन समाज आया, देश आया, संस्कृति आई।

हमारे देश की सांस्कृतिक और सामाजिक यात्रा के साक्षी और उसकी अस्मिता को गढ़नेवाले ऐसे मस्तक ही रहे, जो भिन्न जातियों के थे, भिन्न देशों के थे, भिन्न संस्कृतियों के थे लेकिन उन्होंने हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को एक उदार और सामाजिक रूप दिया और यह स्वरूप देते–देते वे स्वयं इसी स्वरूप में विलीन हो गए। रवीन्द्रनाथ ने बहुत सही लिखा–

हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथा द्राविड़ लीन।
शक हूण दल मोगल पठान एक देहे होलो लीन।।

ये सारी देहें एक देह में विलीन हो हमारे समाज को बना गईं। निश्चय ही विभिन्न धर्मों, जातियों और संस्कारों से बना समाज जो हमने पाया, वह बड़ा परिवर्तनशील शुरू से रहा, क्योंकि उसकी बुनावट ही ऐसी रही कि उसके स्वरूप को बदलते रहना था। यह समाज इसलिए भी परिवर्तनशील था क्योंकि इस पर बाहरी प्रभाव बहुत पड़े और पल–प्रतिपल सामाजिक परिदृश्य बदलते रहे। इन परिदृश्यों को बदला अपने समय की प्रासंगिक पीढ़ी ने। बलवान समय नहीं होता, पीढ़ी होती है जो समय को ढालती है अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप। इसलिए समकालीन समाज के बारे में विचार करते जब प्रासंगिक पीढ़ी की याद आती है तो लगता है कि हम खड़े हैं समय के सामने।

आज के समय के सामने खड़े होकर हम यत्न कर रहे हैं उसे अपने अनुरूप ढालने का। कोशिश कर रहे हैं कि हमारा समकालीन समाज हमारे अनुरूप ढल जाए। हम यदि अपने–आपका विश्लेषण करें तो पाएँगे कि हम जो समाज के घटक हैं उन्हीं में पारस्परिक विरोध है, विसंगति है। विरोध सर्जनात्मक हो, तो भी विरोधी प्रवाहों के होते हुए गतिशीलता बनी रहती है; लेकिन जब विरोध केवल विरोध के लिए हो तो समाज की प्राण–शक्ति लुप्त हो जाती है, वह जड़ हो जाता है और यह जड़ता परिवर्तन का भ्रम देने लगती है। हमारे आज के सामाजिक परिदृश्य को देखें तो कुछ ऐसी ही स्थिति नज़र आएगी।

हम एकता का थोथा दंभ भर रहे हैं जबकि हम हर स्तर पर विभक्त हैं। हम घोर संकीर्ण और व्यक्तिपरक होते जा रहे हैं जबकि हवाएँ उदारता के शोर से सराबोर हैं हम सांप्रदायिक हैं। वर्गभेद, जातिभेद, भाषाभेद, वर्णभेद और तरह–तरह के भेदों को हम जन्म देते

हैं, उन्हें बढ़ावा देते हैं, जबकि नींद तब तक नहीं आती जब तक कि दिन में दस बार अपने गैर–सांप्रदायिक होने और भेदहीन रहने की घोषणाएँ हम न कर लें।

हम शोषक हैं, शोषण का कोई अवसर नहीं छोड़ते जबकि शोषणमुक्त समाज के निर्माण का रोज़ संकल्प लेते हैं।

हम जो अच्छी शपथ जितनी बार लेते हैं, उसी शपथ को उससे दुगुनी बार तोड़ते हैं। हमने मन–ही–मन यह शपथ ले रखी है कि हर शपथ जो लेंगे उसे तोड़ेंगे ही। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि हमारे स्वयं के आचरण इतने दोमुँहे और आडम्बरपूर्ण हैं कि उनकी न तो कोई विश्वसनीयता है और न ही उनमें इतनी ताक़त कि वे समाज की जड़ता को तोड़ सकें, जिसका सीधा परिणाम यह है कि हमारी प्रतिरोधक शक्ति समाप्त हो रही है और समाज में बड़े खुले रूप से उन विकृतियों को प्रगति के नाम पर प्रतिष्ठित करने के प्रयास हो रहे हैं और उन्हें सामाजिक बदलाव कहा जा रहा है।

निश्चय ही यह सिक्के का एक पहलू है, लेकिन दुर्भाग्य से यही पहलू बार–बार सामने आता है। ऐसा नहीं है कि समूचे लोगों के आचरण दोमुँहें हो गए हों, मनुष्यता पूरी तरह समाप्त हो गई हो, रचनात्मकता के प्रयास विराम पा गए हों, संघर्ष और जिजीविषा खत्म हो गई हो, मगर यह सब–कुछ अनुपात के रूप में इतना कम है कि इसके सहारे यह सुनिश्चित नहीं माना जा सकता कि हमारे समाज को हम वह स्वरूप दे लेंगे जिस स्वरूप को पाकर वह अपनी सार्थकता पा सकता है।

आज राजनीति एक नियामक शक्ति है, लेकिन यह शक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक प्रसंगों में जब अपनी पैठ बढ़ाकर उन्हें नियंत्रित करने का प्रयास करने लगेगी तो यह स्थिति निश्चय ही चिंतनीय होगी। इस दिशा में विचार करना उन लोगों के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है जो पूरी तरह समाज के परिमार्जन के लिए अपने–आपको समर्पित घोषित करते हैं।

सही मायनों में कहें तो आज जो बदलाव दिखाई दे रहा है वह बदलाव का भ्रम है। सामाजिक बदलाव तो तब आया था जब वैदिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध बुद्ध और महावीर उठ खड़े हुए थे और सारे भेदों को भुलाकर उस काल का समूचा लोकमानस उनके पीछे हो लिया था। यह बदलाव तब भी आया था जब आदि शंकराचार्य ने उत्तर से दक्षिण तक इस देश के सामाजिक अस्तित्व को एक सूत्र में पिरोने का संकल्प लिया और उसे पूरा कर दिखाया था।

यह बदलाव तब भी आया था जब मुग़लों के ही बीच अकबर और दारा शिकोह पैदा हुए, रहीम और रसखान पैदा हुए, और इनके भी पहले हुए अमीर खुसरो। इन सबने पूरे मन से इस देश की सामाजिक अस्मिता को एक सामासिक स्वरूप देने की कोशिश की, प्रयास किया कि हिन्दू और मुसलमान भाईचारे की भावना के साथ जिएँ, इसलिए कि अब यही देश

हर जाति और धर्म के लोगों की मातृभूमि और कर्मभूमि है, सभी को यहीं पैदा होना, जीना और मरना है। इसी परिप्रेक्ष्य में सूफी सन्तों के साथ–साथ नानक, कबीर, दादू और रैदास जैसे सन्त कवि जन्मे, तुलसी और सूर जन्मे जिन्होंने ब्रह्म के साकार और निराकार दोनों रूपों की भक्ति का औचित्य सिद्ध किया। तुलसी ने एक आदर्श समाज की व्यावहारिक धरातल पर परिकल्पना दी, जिसके कारण तत्कालीन समाज अपने उत्थान और परिमार्जन के लिए संगठित हुआ।

यह बदलाव तब भी आया जब राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे लोगों ने अपने पारदर्शी कृतित्व के बल पर समाज के परिष्कार की ताकतवर कोशिशें कीं. और यह बदलाव आज भी आ सकता है क्योंकि गांधी को मरे लम्बा अर्सा नहीं बीता; मदर टेरेसा जैसी शख्सियत आज भी ज़िंदा है। सामाजिक बदलाव वह नहीं है जिसके कारण दूरदर्शनी छवियाँ देख–देखकर पीढ़ी अपनी वेशभूषा बदल ले, आधुनिक होने के नाम पर अपनी जीवन–शैली बदल ले और पॉप संगीत की धुनों पर थिरकने में निपुण होकर अपने आधुनिक होने का गौरव करने लगे। सामाजिक बदलाव वह भी नहीं है जो छद्‌म प्रगतिशीलता के नाम पर नारों, बिखरे बालों, अस्तव्यस्त दाढ़ियों और छलकते जामों के बलबूते पर लाया जा रहा है, या आग उगलते, गालियों– भरे उन वक्तव्यों के बलबूते पर लाया जा रहा है जिनकी छपने से ज़्यादा कोई अहमियत नहीं; क्योंकि, हमारे समाज का छोटे से छोटा घटक इनके थोथेपन और नकलीपन को या तो समझता है या उसे समझ में ही नहीं आता। सामाजिक बदलाव का सीधा संबंध हमारी चेतना से है। जब तक चेतना नहीं बदलेगी, संवेदना प्रखर नहीं होगी, कर्मण्यता के पथ पर बिना किसी अपेक्षा–भाव के हम चलने को तत्पर नहीं होंगे, तब तक हमारी यह वर्तमान जड़ता समाप्त नहीं होने वाली जिसे हम भ्रमवश बदलाव मान रहे हैं।

सामाजिक बदलाव विचार और कर्म की एकरूपता से आता है, और वह भी तब जब यह एकरूपता स्वतः जन्मे। एकरूपता को सायास जन्माने के कोई प्रयास सफल नहीं हो सकते, और यह भी कि यह एकरूपता जब व्यक्ति में जन्मेगी तभी बदलाव की सच्ची प्रक्रिया का जन्म होगा। विचार और कर्म की एकरूपता व्यक्ति–व्यक्ति में पैदा हो सके, इसके लिए पहली ज़रूरत इस बात की है कि जो व्यक्ति जिस क्षेत्र में है वह उस क्षेत्र में अपने कर्म के प्रति समर्पित हो। कर्म की वर्तिका के प्रज्वलन के बिना सामाजिक बदलाव की दीपावली नहीं मन सकती, जड़ता का तिमिर नहीं छँट सकता। यह प्रज्वलन किसी चिन्तन से नहीं होगा। यह प्रज्वलन चिन्ता से होगा। चिन्ता जब गहराएगी समाज के वर्तमान को देखकर, तो फिर जिजीविषा जन्मेगी, कर्म जन्मेगा।

आज के हालात हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक बदलाव की ज़रूरत को रेखांकित करते हैं। आज की परिस्थितियों में हमारा समाज एक छद्‌म बदलाव का आभास देता है; वास्तविक बदलाव की तो आहट भी सुनाई नहीं देती। सामाजिक परिवर्तन यदि सहजता से

नहीं हुए और अचानक किसी हादसे से समाज के धरातल में उथल–पुथल हुई तो वह भूकम्प की स्थिति होगी और यह स्थिति निश्चय ही समूची राष्ट्रीय अस्मिता के लिए खतरा सिद्ध होगी।

आज का परिवेश ऐसा है कि हम मोम को अपना आदर्श मान बैठे हैं जो अपारदर्शी है और ज़रा–सी आँच से पिघलता है। हम मोम के पुतलों की तरह व्यवहार करते हैं, अपने लिए मोम के आदर्श और मूल्य गढ़ते हैं और जब उनकी ज़रूरत नहीं रहती, उन्हें पिघला देते हैं और खुद भी पिघल जाते हैं। इस मोम–संस्कृति से जब तक छुटकारा नहीं मिलेगा, तब तक सामाजिक बदलाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

भारत जैसे विकासशील देश को एक ऐसे समाज की ज़रूरत है जो स्वावलंबी हो; एकता के सूत्र में बँधा हो; उदार, सहिष्णु और गतिमान हो; भारत के बाहर की जो उन्नत वैज्ञानिक दृष्टि है उससे संपन्न, और अपनी उत्कृष्ट धरोहर के मूल्यों से संपृक्त हो तथा निरन्तर कर्म के पथ पर अग्रसर रहकर अपने देश की उपलब्धियों को गढ़नेवाला ऐसा समाज हो जिसमें विरोध हो, लेकिन प्रवहमान विरोध हो क्योंकि प्रवहमान विरोध ही पाखण्डों के अवरोधों से देश की प्राणधारा को मुक्त करेगा। टूटना, बिखरना, विखंडित होना, अलगाववाद के स्वरों का कोलाहल में बदलना, बँटने और बाँटने के लिए व्यग्र हो उठना हमारे आज के सामाजिक परिदृश्य को उजागर करनेवाले दैनिक लक्षण हैं और इन्हें तभी समाप्त किया जा सकेगा जब हम रहीम को अपने–अपने कर्मों में उनकी इन पंक्तियों के साथ दुहरा लें–

टूटे सजन मनाइए, जो टूटें सौ बार।
रहिमन फिर फिर पोहिए, टूटे मुक्ताहार।।

दिहाड़ी दिल्ली की

दिल्ली में पूछा ऑटोवाले से–दिनभर ऑटो साथ रहेगा, कितना लोगे? उसका जवाब था–पेट्रोल के 100/– रुपए और साहब, दिहाड़ी जो आप माकूल समझें; कम–से–कम डेढ़ सौ तो दिहाड़ी के दियो। यह दिहाड़ी क्या है ? दैनिक मजदूरी को दिहाड़ी कहते हैं दिल्ली में। यह शब्द देह से जुड़ा है। भाषा–शास्त्री, विद्वान् इसके क्या अर्थ खोजें, व्युत्पत्ति निकालें, नहीं जानता, लेकिन शब्द बेधता है। इसमें हाड़ भी है, इसलिए इसकी व्यंजना बड़ी मार्मिक–सी लगती है, छती है मन को; लगता है जैसे मनुष्य अपनी पूरी अकिंचनता के साथ, करुणा के साथ अपने श्रम का मूल्य माँग रहा हो। इस शब्द में छुपे दैन्य ने, अकिंचनता और मजबूरी ने मुझे बड़े गहरे छू लिया। लेकिन जब सोचा तो लगा कि मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ ? विभिन्न आलीशान भवनों के ए० सी० कमरों में बैठे नौकरशाह, बड़ी–बड़ी इमारतों के भव्य कक्षों और बँगलों में अपने–अपने आराधकों से घिरे कुछ ईश्वर, जनपथ से लेकर जमना पार तक, नोएडा से अशोका तक, तरह–तरह के विहारों, कॉम्पलेक्सों, एक्सटेंशनों, नगरों और तरह–तरह के नामों वाले फ्लैट्स के जंगलों में अपनी–अपनी जुगाड़ में लगे हर तबके और हैसियत के लोग क्या कर रहे हैं ? उत्तर मिला– दिहाड़ी। ऑटोवाला बिना पढ़ा–लिखा आदमी जिसे दिहाड़ी कहता है, उसे मैं 'ऑफिसियल टूर', नेता 'जनकल्याण', पत्रकार 'निर्भीक कर्म', ज्ञानी 'आत्मालोचन', कलाकार 'साधना', नौकरशाह 'प्रशासन' और उद्योगपति 'मैनेजमेंट' कहते हैं, लेकिन असलियत यही है कि ये सभी शब्द दिहाड़ी के पर्याय हैं। दिल्ली में हर कोई दिहाड़ी कर रहा है और तरह–तरह के नाम देकर उसे अपनी–अपनी हैसियत के मुताबिक वसूल कर रहा है।

नई सड़क, चाँदनी चौक, कश्मीरी गेट, साउथ दिल्ली, जमना–पार और हौज ख़ास से लेकर जहाँ–जहाँ तक दिल्ली फैली है वहाँ सभी दिहाड़ी कर रहे हैं। यों अकेले दिल्ली में क्यों, पूरे देश में हर देह दिहाड़ी को अपने दिन दिए बैठी है। लेकिन दिल्ली की दिहाड़ी की अपनी पहचान है। यह अनुभव करा देती है आदमी–आदमी के बीच का फर्क। दिल्ली इसी वजह से तो राजधानी है कि यहाँ फर्क के हर्फ बड़ी आसानी से पढ़े जा सकते हैं। मेरे कस्बाई शहर में, उससे लगे हुए गाँव में आदमी–आदमी के बीच फर्क बहुत कम नज़र आते हैं और शायद यही वजह है कि सदियों से वे ज्यों–के–त्यों हैं, और दिल्ली हमेशा से राजधानी इसीलिए बनी रही क्योंकि वहाँ यह फर्क हर वक्त महसूस किया जाता रहा। दिल्ली की देहलीज़ को इतिहास के किसी भी रास्ते से लाँघने की कोशिश करो, इस फर्क के सैकड़ों निशान पूरे राजपथ पर दीख पड़ जाएँगे। दिल्ली में यों कहने को जनपथ भी है, लेकिन वह जनपथ भी वास्तव में राजपथ ही है। जनपथ की इस भव्यता के सामने जाने कितने महानगरों के राजपथ लजाते हैं।

दिल्ली में बाहर से आनेवाला हर अजनबी तुरंत पहचान लिया जाता है, क्योंकि उसकी पहचान किसी परिचय की मोहताज नहीं होती। उसका संकोच, उसकी अपने दैन्य को छुपाने की कोशिश उसके अजनबीपन को उजागर कर देती है। दिल्ली का पुश्तैनी बाशिंदा उसके हौसले पलक झपकते ध्वस्त कर देता है, या उसे वे लोग तुरंत पस्त कर देते हैं जो भले दिल्ली के पुश्तैनी बाशिंदे न हों लेकिन जिनके लिए दिल्ली उनकी अपनी मिल्कियत है। ऐसे जाने कितने मालिकों से दिल्ली भरी पड़ी है। दिल्ली का कोई एक मालिक नहीं। जो सबका मालिक है वह भी दिल्ली का मालिक नहीं, क्योंकि यहाँ तो हर क्षेत्र के अपने–अपने प्रभु हैं; राजनीति, कला, धर्म, संस्कृति और साहित्य से लेकर हर सुबह और हर साँझ तक के अलग–अलग मालिक हैं! यहाँ की भोर भी बंदी है और साँझ भी। जाने क्यों दिल्ली में कभी स्वतंत्र सूरज नहीं उगता ! सुबह के उगते सूरज को देखो तो लगता है जैसे कोई अलसाया कैदी ज़ंजीरों और बेड़ियों में जकड़ा हुआ अपने पीले उदास चेहरे को लिये उठ खड़ा हुआ हो। बड़े मजबूर और उदास उजाले की 'सुबह दिल्ली में होती है जो शाम तक पस्त हो जाने कहाँ खो जाती है। दिल्ली की भोर का सूरज भी दिहाड़ी करता है ! कैसी राजधानी है यह ? यह तो राजधानियों की राजधानी है क्योंकि यहाँ हर प्रदेश की राजधानी की धारा आकर मिलती है। यह राजधानी तो बड़ी मोहक होनी चाहिए। यहाँ की भोर लुभावनी और साँझ सुहावनी होनी चाहिए, लेकिन यहाँ ऐसा लगता नहीं। एक अजीब–सा यांत्रिक बोध हावी रहता है, संवेदना पर सांत्वना हावी रहती है, यह सांत्वना किसी तरह संवेदना की गिरती देह को थामे रहती है इसलिए कहीं–कहीं ज़िंदा अहसास दिखाई दे जाते हैं। राजधानी के इस मरुथल में कहीं–कहीं मंदाकिनी की पतली धार दिखाई दे जाती है जैसे मेरे ऑटोवाले की निश्छल स्वीकारोक्ति, उसकी खुजली मनुहार कि पेट्रोल के अलावा कम–से–कम डेढ़ सौ तो दिहाड़ी के दो, वर्ना यहाँ कैसे दिन बीतेंगे ?

दिल्ली जब गया तो एक दिन अखबार में पढ़ा कि एक विलक्षण नृत्य–संगीत का आयोजन हुआ। इस आयोजन का उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि राग से रोग दूर किए जा सकते हैं। बड़ी हँसी आई कि जहाँ के राग ही रोगग्रस्त हों, वे क्या किसी दूसरे का रोग दूर करेंगे ? यह एक पत्थर–सा सच है कि राजधानी में कभी स्वस्थ और स्वतंत्र राग नहीं गाए जाते। राज–राग को प्रश्रय दे सकता है लेकिन स्वतंत्र होने का अधिकार नहीं दे सकता। राजधानी के राजराग और मेरे गाँव के लोकराग में तानसेन और हरिदास का फर्क है। फिर दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में लघुचित्रों की प्रदर्शनी देखी 'म्यूज़िक इन आर्ट', कला में संगीत। बड़ी मोहक प्रदर्शनी ! मध्यकाल में विभिन्न राग–रागिनियों को आधार बनाकर, विभिन्न शैलियों में उकेरे गए चित्र और उनका विवरण देते हुए मनोहारी प्रस्तुतीकरण, हमारी उत्कृष्ट धरोहर का भव्य प्रदर्शन, मन प्रसन्न हो गया ! लेकिन फिर यही लगा कि यहाँ रंग–राग दोनों बंदी हैं, ये भी म्यूजियम में दिहाड़ी करते हैं। राजधानी की दिहाड़ी जीवित और मृत दोनों में कोई भेद नहीं पालती।

आदमी श्रम करे और उसका मूल्य चाहे तो यह उसका अधिकार है, लेकिन उसके श्रम का शोषण हो, उसके चेहरे पर झलकते स्वेद–बिन्दु श्रम के सच्चे मूल्य की याचना करें और जो श्रम का ढोंग रचते हैं वे इस याचना को धृष्टता मानकर इस सार्थक श्रम को अपमानित करने की कोशिश करें तो यह समूची मनुष्यता का दुर्भाग्य है। दिल्ली की आभिजात्य दिहाड़ी और ऑटोवाले की दीन दिहाड़ी में यही अंतर है कि यहाँ की दीन दिहाड़ी को लोग धोखा, ठगी और जाने क्या–क्या नाम देकर लांछित करते हैं, और इसी सच्ची दिहाड़ी का शोषण कर अपनी ढोंगी दिहाड़ी को आभिजात्य प्रदर्शित करते हैं। दिल्ली की विभिन्न स्तर की दिहाड़ियाँ इसी सच के अक्स हैं।

यह क्या हो गया मनुष्य को कि वह ज्यों–ज्यों अधुनातन होता जाता है उतना ही अंधत्व उसे घेरता है ! वह ज्यों–ज्यों ज्यादा वैज्ञानिक होता जाता है त्यों–त्यों उसे संकीर्णता के बंधन बाँधने लगते हैं ! वह जितना मानवीय होने का दंभ भरता है उतना ही अमानवीय होता चला जाता है ! जाने कितने विरोधाभासों को लेकर वह अपनी जीवन–यात्रा तय कर रहा है ! रोज़ उसे अपने छद्मों के औचित्य सिद्ध करने पड़ रहे हैं, अपने पाखंडों के स्पष्टीकरण देने पड़ रहे हैं, अपनी खुद की रची छलनाओं से जूझना पड़ रहा है। सोच कुछ और, दिखावा कुछ और, कर्म कुछ और। कहीं कोई एकरूपता नहीं। उसकी पारदर्शिता खो चुकी, स्वाभिमान गुम हो गया, परछाइयों के जंगल घनेरे हो चले, और इन्हीं जंगलों के बीच उसे अपनी अस्मिता तलाश करनी पड़ रही है।

जाने कहाँ खो गए कण्व के, सांदीपनि के, विश्वामित्र और वाल्मीकि के आश्रम जो रचते थे भरत, कृष्ण, राम और लव–कुश जैसे मनुष्य ! जाने कहाँ खो गया तमाल और कदम्ब से आच्छादित वृन्दावन जो मनुष्य को एक कुंज–संस्कृति के उदार आराधना–भाव से संपृक्त करता था ! जाने कहाँ खो गए मालिनी, सरयू और कालिन्दी के तट जिनकी मिट्टी एक उदार मनुष्यता के प्रतिमान गढ़ा करती थी ! हमने इन्हें जाने कब खो दिया, बिसरा दिया और इनके माहात्म्य के पन्ने सहेजकर रख लिये। पन्ने कहाँ सच्चे इतिहास होते हैं ! इबारतें और इमारतें इतिहास नहीं होतीं। इतिहास तो वह होता है जो मनुष्यता की उत्कृष्टता का प्राण–रस पीढ़ियों में घोलता चला जाए और हर पीढ़ी प्रतिनिधित्व करे कृष्ण के पौरुष का, राम की मर्यादा का, जानकी की जिजीविषा का। लेकिन आज तो हमारे पास इतिहास भी नहीं है। हम बहुत–कुछ पाने का दंभ भरते हैं, मगर जो खो चुके उसका कोई अहसास नहीं !

यह अहसास होना ज़रूरी है। जो खो गया उसका पश्चात्ताप न करें, लेकिन हमारे प्रसंगों की ज़रूरत के मुताबिक उस धरोहर को टटोलने की कोशिश तो करें ! इतिहास के पन्नों को न पलटें, उन पन्नों पर जो अक्षर रचे हैं उनमें समोए रस में डूबें तो ! इस रस में राघव की मर्यादा मिलेगी, राधा की आराधना और रसेश्वर कृष्ण का पौरुष। अतीत की इन इबारतों की पगडंडियों के जाल में खोए हमें महावीर मिल जाएँगे, बुद्ध मिल जाएँगे और

कबीर। इन्हें खोजे जाने का विरोध, इन्हें इनकी समग्र कर्मण्यता में देखे जाने का निषेध कोई दर्शन नहीं करता, बल्कि हर दर्शन और हर रचनात्मक विचार यही कहता है कि इनसे जो पाखंड और आडम्बर जोड़ दिए गए हैं उन्हें त्यागो और इनके सच्चे रचनाकर्म को समेट लो अपने–आप में; क्योंकि यदि यह हो पाया तो फिर पक्के, स्थायी और नए निर्माण के संकल्प साकार हो उठेंगे।

अभी क्या हो रहा है ? केवल एक तदर्थ कर्म जो कमज़ोर के शोषण पर आधारित है, जो सिर्फ अपने स्वार्थों के दायरे में कैद है; देश के भविष्य और पीढ़ियों के निर्माण से जिसका कोई सरोकार नहीं, जो सिर्फ अपनी इकलौती वैयक्तिकता में सिमटा है, जिसके सारे उद्देश्य अपने निजी स्वार्थों को सींचने के हैं जबकि उपदेश 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के दे रहा है ! इस तदर्थता से मुक्ति पाना, इस मानसिकता को त्याग देना आज की पहली ज़रूरत है। मुक्त होना आज के मनुष्य की पहली प्राथमिकता है। मुक्त मानसिकता वाला मनुष्य ही सार्थक निर्माण के संकल्प सँजो सकता है, उन संकल्पों को साकार कर सकता है। अपनी–अपनी दिहाड़ी में लगे आदमी से, जो दिनभर की पूरी दिहाड़ी मिलने पर संतुष्ट हो, अगले दिन की दिहाड़ी की उम्मीद लिये सो जाता है, किसी सार्थक निर्माण की आशा नहीं की जा सकती।

दिल्ली के आदमी से पूरे देश के आदमी को उम्मीदें हैं, इसलिए कि दिल्ली का आदमी चाहे वह प्रशासन में हो, पत्रकारिता में, राजनीति में, साहित्य और संस्कृति में, इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह जाने–अनजाने देश के भविष्य को रचने में सीधा सहभागी है। होनेवाले और हो रहे निर्माण से उसका सीधा संबंध है। वह शिल्पी है, कलाकार और निर्माता है, उसके हाथों में सनी हुई मिट्टी है, गढ़ने के औज़ार हैं; सिर्फ़ मन में संकल्प–भाव नहीं है। दिल्ली का आदमी देश के आदमी के लिए उदाहरण बन सकता है, प्रेरणा बन सकता है यदि वह चाहे तो। देश के लोग तो बहुत–कुछ करना चाहते हैं, लेकिन दिल्ली नहीं चाहती। दिल्ली कुछ करने की ठान ले तो पूरे देश की फिज़ा बदल सकती है। यों कुछ अपवाद दिल्ली में हो सकते हैं लेकिन अपवाद होते ही हैं, इसलिए कि वे सिर्फ़ उँगलियों पर गिने जा सकें, केवल गिनती तक उनकी अहमियत ज़िंदा रहती है। परिवर्तन तो पूरी दिल्ली के मनुष्य में चाहिए।

मुझे बहुत उम्मीदें हैं दिल्ली से, दिल्ली के समाज से, दिल्ली के मनुष्य से। मैं कुछ दिन रहकर दिल्ली से लौट ज़रूर आया हूँ, लेकिन लौटते–लौटते बड़ी आशा के साथ वहाँ के हर आदमी को निहारता आया हूँ उम्मीद से कि इसके हाथ में सनी हुई मिट्टी है, यह ज़रूर कुछ गढ़ने का उपक्रम करेगा।

दिल्ली में रहकर 'ऑफिसियल टूर' के नाम से मैंने अपनी दिहाड़ी कर ली, लेकिन दिल्ली से लौटा इसी उम्मीद से हूँ कि वहाँ की जाने वाली दिहाड़ी का मौजूदा स्वरूप बदलेगा।

भविष्य की दिल्ली, न दिल वालों की होगी, न दिल्लगी की, न दीनता के पर्याय सिर्फ़ दिहाड़ी करनेवाले की; बल्कि वह ऐसी देहलीज़ बनानेवालों की होगी जिसे इतिहास के किसी भी रास्ते से लाँघो, आदमी–आदमी के बीच कहीं फर्क के निशान न जनपथ पर नज़र आएँ, न राजपथ पर।

कुछ सूर्यों की तलाश में

जाने कहाँ गुम हो गए ! सभी जगह तो खोज लिया–अपने घर में भी, बाहर भी; दूसरे घरों में भी ताक–झाँक कर ली; कोना–कोना छान मारा लेकिन नहीं मिले। बुजुर्ग बताते हैं कि उनके बुजुर्गों ने उन्हें बताया था कि बहुत पहले उनके पुरखों के पास वे थे; उनके बिना जीवन चलता ही नहीं था, लेकिन बाद में उनकी ज़रूरत कम पड़ने लगी; फिर वक्त आया तो कुछेक पीढ़ियों पहले उन्हें सहेजकर रख दिया गया, फिर भी वे कभी–कभी देख लिये जाते रहे; बाद में किसी अलमारी में ताला लगाकर वे बंद कर दिए गए। उन्हें भुला भी दिया गया। लेकिन आज जब ज़रूरत पड़ी तो उन्हें खोज रहा हूँ। दादी बताती है कि वे एक नहीं कई थे, उसे भी बहुत कम जानकारी है। इस उमर में उसे अब दीखता भी नहीं, फिर भी उसी की स्मृतियों के आसरे मैं खोज रहा हूँ। वह इन दिनों पीछे पड़ी है कि ढूँढ उन्हें ! बिना उन्हें तलाशे तेरी मुसीबतें ख़त्म नहीं होंगी। लेकिन कहाँ ढूँढूँ ?

वे कुछ दुर्लभ हैं जिनकी तलाश है मुझे। ये वे सूरज हैं जो कभी धरोहर हुआ करते थे मेरे पुरखों की, जिनकी अनिवार्यता इतनी थी कि बिना उनकी रौशनी के उनका जीवन ही अर्थहीन था। ये सूरज उनके अन्दर हुआ करते थे, जिनके प्रकाश से उनके तन और मन जगमगाते थे। वे इन्हीं सूर्यों की रौशनी में जीते थे, रचते थे और युद्ध भी करते थे। बुद्ध जिए, वाल्मीकि ने रचा और अर्जुन ने युद्ध किया।

मैं इन्हीं सूर्यों की तलाश कर रहा हूँ क्योंकि जिया नहीं जा रहा, रचा नहीं जा रहा, लड़ा नहीं जा रहा।

यह सही है कि हरेक न वाल्मीकि हो सकता है, न बुद्ध, न अर्जुन, लेकिन यदि ये खोए हुए सूरज खोजकर फिर से सँजो लिये जाएँ तो यह तो हो सकता है कि जीने, रचने और संघर्ष कर अन्याय को पराजित करने का वातावरण बन सके।

अभी तो जो जीना, रचना और संघर्ष करना दीख पड़ रहा है उससे बड़ा तो कोई छलावा नहीं। जीना मतलब सिर्फ साँसों का आरोह–अवरोह और वह भी सिर्फ अपने लिए; रचना मतलब अक्षर–माया के मोह और संघर्ष का मतलब कुछ पा जाना अपने लिए और घोषित करना समाज के लिए, देश के लिए। जीने, रचने और संघर्ष करने के ये बडे संकीर्ण अर्थ हैं और इसलिए हैं क्योंकि हमारे अन्दर वह रौशनी नहीं जो कभी हमारे बुद्ध, वाल्मीकि और अर्जुन के अन्दर हुआ करती थी। जाने कब से यह प्रकाश अशेष होना शुरू हुआ, होता चला गया; अँधेरा ऐसा छाया कि जैसे उसे तिरोहित ही न होना हो, और हमने इसी अँधेरे को अपनी नियति मान लिया। इस अँधेरे ने अपने मानक बनाए, यही मानक फिर हमारी साँसों के नियंता बन गए, अक्षरों के स्वामी और हमारी संघर्ष–शक्ति के अघोषित सेनापति।

हम इस अँधेरे को ही उजास मान बैठे और जो कुछ यह हमें सौंपता गया उसे स्वीकार करते गए, सुरक्षित रखते गए। इसी अँधेरे ने पहले अलमारी दी, फिर उकसायां कि अपने अन्दर समाए सूर्यों को बाहर निकालो, फिर कहा कि इन्हें अलमारी में रख दो और बाद में एक ताला सौंप दिया कि अलमारी बंद कर दो। ताला बंद करवाकर चाबी इस अंधकार ने रख ली और तभी से हमारे जीने, रचने और संघर्ष करने की शैली ही बदल गई। इसमें अँधेरे का यही स्वार्थ निहित है कि उसका अस्तित्व बना रहे, उसे कभी तिरोहित न होना पड़े और हम सिर्फ़ अपने–आपमें उलझे रहें, तल्लीन रहें, हमारी चुनौती देने की क्षमता ख़त्म हो और अंधकार का साम्राज्य अक्षुण्ण बना रहे।

अँधेरे ने जो मानक गढ़े और जिनके आधार पर हमने अपने–आपको गढ़ा, उससे यदि हम सुखी बने रहते तो कोई हर्ज नहीं था, मगर समय ने हमारे सारे मुग़ालते दूर किए और आज हम उस मोड़ पर खड़े हैं जहाँ जी पाना दूभर है, रचना तो असंभव और लड़ना सिर्फ अपने लिए। इसलिए बेहद ज़रूरी है इन खोए हुए, गुमे हुए सूर्यों की खोज। क्योंकि जब तक ये हमारे अंदर प्रतिष्ठित नहीं होंगे, मुसीबतों और मजबूरियों के हल नहीं निकलेंगे।

कौन–से हैं ये सूरज ? जवाब मिल जाएगा, यदि बुद्ध की शांति, वाल्मीकि की संवेदना और अर्जुन की दृढ़ कर्मण्यता में उन्हें खोजने की कोशिश करें। बुद्ध जब बोले 'अप्पो दीप भव' अर्थात् 'अपने दीपक खुद बनो' तो ये शब्द अंदर समाए सूरज के अँधेरों से फूटे थे। वाल्मीकि ने जब 'मा निषाद' उच्चरित किया तब उनके कंठ में एक करुण संवेदना का सूरज मौजूद था, और जब अर्जुन ने गाण्डीव की प्रत्यंचा तानी तब उसके हाथों को उस मन ने ताकत दी जिसकी तह में कृष्ण की इस सीख का सूरज छुपा था कि अन्याय का प्रतिरोध पूरी कर्मण्यता से करो, क्योंकि बिना कर्म के आदमी की कोई परिभाषा नहीं बनती।

जाने कब से हमने बंधुत्व, सार्थक संवेदन और सच्ची कर्मण्यता के सूर्यों को अँधेरे द्वारा सौंपी गई अलमारी में बंद कर दिया, उस पर अपनी हताशा का ताला लगा दिया और अपनी नियति की चाबी भी उसी अँधेरे को सौंप दी जो बड़ी बेसब्री से अपने साम्राज्य को फैलाने के लिए इसी समय की बाट जोह रहा था।

आज जब आपाधापी मची है, तनाव से ग्रस्त हैं, अपने बुने मकड़जाल में फँसकर रह गए हैं, छटपटा रहे हैं, तब बेहद याद सता रही है इन सूर्यों की।

अँधेरे ने अकर्मण्य बनाया, इच्छा–शक्ति छीनी और इसका आभास न हो इसलिए सुविधाओं के सागर जुटा दिए हमारे लिए, हम इनमें डूब गए; और जब अँधेरे को भरोसा हो गया कि हम पूरी तरह अकर्मण्य हो चुके तो उसने इन सुविधा–सागरों को सोखना शुरू कर दिया। ये सुविधाओं के सागर सूखने लगे तो हमारी साँसें रुकने लगीं और आज हम बिना जल की मछली की तरह छटपटा रहे हैं।

हम मछली की तरह छटपटाते हुए छद्म ईश्वरों की तरफ दौड़ रहे हैं, उन पाखण्डों की तरफ़ भाग रहे हैं जिनके बारे में हम सोचते हैं कि ये सागर होंगे, सरोवर होंगे; लेकिन ये सागर या सरोवर भी इसी अँधेरे की सृष्टि हैं। यहाँ जाकर भी कुछ नहीं मिलता। साँसों की टूटन जारी है, प्राणवायु बड़ी तेज़ी से खत्म हो रही है और बार–बार फिर अलमारी के ताले की तरफ़ दृष्टि जा रही है। यह ताला कैसे टूटे ? कैसे ये सूरज बाहर आएँ जिन्हें हम आत्मसात् कर सकें?

ये सूरज ज़रूर खोजे जा सकते हैं, ढूंढे जा सकते हैं, इन्हें फिर से प्रतिष्ठा दी जा सकती है, स्वयं को ज़रूर जगमगाया जा सकता है बशर्ते कि हम कर्म की सच्ची आराधना और जिजीविषा की सार्थक अर्चना आरंभ कर दें।

यह आरम्भ ही अंत करेगा अँधेरे का, क्योंकि हमें मालूम होगा कि अलमारी कहीं और नहीं हमारे अन्दर ही है। उस पर जड़ा ताला जो हताशा का है वह इसी आरम्भ की प्रतीक्षा कर रहा है, और वे सूरज जो हम बाहर खोज रहे हैं हमारे अन्दर ही हैं। बुद्ध, वाल्मीकि और अर्जुनदृजीवन, रचाव और संघर्ष–हमारे अंर्त में ही विद्यमान हैं।

इन सूर्यों को खोजें नहीं, क्योंकि खोज हमेशा बाहर की होती है। रौशनी को पा लेना सिर्फ तभी मुमकिन है जब अन्दर से जागृत हो उठें। ये सूरज और कुछ नहीं, अपनी अंतर्ज्योति के अलग–अलग पुंज–भर हैं–बुद्ध, वाल्मीकि और अर्जुन–जीवन, संवेदना और संघर्ष!

महावट कुछ जुगनुओं की रौशनी में

एक महावट वृक्ष देखा। काफी चौड़ा तना, मोटी शाखाएँ, उन शाखाओं पर नीचे झूलकर ज़मीन को चूमती लटाओं की तरह जड़ें। बड़ा पुराना वट जिसे बड़ या बरगद भी कहते हैं। एक बुजुर्ग ने बताया कि यह सैकड़ों बरस पुराना है। उनकी जाने कितनी पीढ़ियाँ इस वृक्ष को देख चुकी हैं।

ऐसे महावट जाने कितने होंगे देश में। उनसे जुड़ी किंवदंतियाँ होंगी, कथाएँ होंगी, उनके नीचे जाने कितने भगवान् विराजे होंगे। इन महावटों की बड़े आलोचनात्मक ढंग से तुलना भी होती रही है कि ये अपने नीचे की धरती बंजर बना देते हैं, अपनी छाँव के नीचे किसी को पनपने नहीं देते, बहुत शोषण करते हैं। समाज के बड़े शोषकों की तुलना महावट से करने की परम्परा चली आ रही है।

मगर ऐसे महावटों की अपनी व्यथा है। इस व्यथा को किससे कहें ? क्या सिर्फ़ लंबी आयु पा लेने और पनप जाने का यही प्रतिफल है कि उन्हीं की छाँव में उन्हें ही कोसा जाए ? वे विवश हैं यह सुनने और झेलने के लिए। महावृक्ष को उम्र उन्हें कोसने वाले नहीं देते, उन्हें प्रकृति देती है और वे किसी के भरोसे नहीं पनपते। वे हर प्रतिकूल जलवायु और वातावरण का सामना करते हुए पनपते हैं और अपने अस्तित्व की रक्षा करते हैं। वे किसी की जवानी छीनकर अपनी उम्र में इज़ाफा नहीं करते। बरगद हो या पीपल, वे अपने बलबूते पर ज़िंदा हैं; किसी माली की दया पर नहीं। वे किसी से पानी की आस नहीं रखते। उनकी जीवन–शक्ति उनके संकल्प और संघर्ष की देन है। उन्हें धरती पानी देती है, उनके फैलने के लिए अपना आँचल पसार देती है। इस धरती को इन महावृक्षों से कोई गिला–शिकवा नहीं है। गिला–शिकवा उन्हें है जिन्हें अपने उपवन सजाने के बीच ये महावृक्ष अवरोध मालूम पड़ते हैं।

आजकल ऐसे कई नाजुक पौधे उग आए हैं जिनकी हिफाज़त बहुत ज़रूरी है, जिनके लिए माली ज़रूरी है, खाद ज़रूरी है, वक्त पर जिनकी टहनियाँ सँवारी जाना ज़रूरी है, आस–पास कँटीले तारों की बाड़ ज़रूरी है। बिना इस सबके ज़िंदगी असंभव है, जीना मुश्किल है। ये नाजुक पौधे बड़ी जल्दी मुरझा जाते हैं। लेकिन इनका चलन बहुत बढ़ गया इसलिए कि ये बहुत कोमल होते हैं, इनकी पत्तियाँ आकर्षक होती हैं, इन पर खिलने वाले फूल तरह–तरह के रंगों वाले होते हैं। इसलिए उपवनों को सँवारनेवाले आजकल इन नाजुक पौधों की हिफाज़त बड़ी संजीदगी से करते हैं और ये महावृक्ष इनको अवरोध मालूम होते हैं। इन महावृक्षों के पास सिर्फ़ सहज हरियाली है। इन पर कोई आकर्षक फूल नहीं फूलते, इनकी पत्तियाँ के रंग नहीं बदलते, वे वैसे ही हैं जैसे इन्हें होना चाहिए। ये वक्त की चाहत के मुताबिक़ अपने–आपको नहीं बदल पाते क्योंकि इन्होंने देख लिया कि वक्त के साथ

बदलनेवालों की बड़ी अस्थायी अहमियत होती है। स्थायी महत्ता तो उस संकल्प–शक्ति की होती है जो हर काल में एक–सी रहती है और इसी संकल्प–शक्ति के पुजारी हैं ये महावृक्ष।

ऐसे वट वृक्षों की तुलना अवसरवादी व्यक्तित्वों से करना ठीक नहीं। इनकी तुलना तो इतिहास के उन महापुरुषों से करनी चाहिए जिनके कृतित्वों की छाँव में आज भी हम अपनी जैसी–तैसी अस्मिता को बरकरार रखे बैठे हैं, जिनके कारण हमारी अकर्मण्यता ढँकी है, जिनके कारण इतिहास के कुछ पन्ने सुनहरे हैं, जिनकी वजह से आज भी कुछ आब बाकी है, ताब बाकी है, उपलब्धियों के कुछेक फूलों का शबाब बाक़ी है।

अवसरवादियों की तुलना तो उन कोमल तनों वाले पौधों से करनी चाहिए जो मिट्टी का रस खींचकर अपनी शोभा बढ़ा लेते हैं और मौसम देखकर पत्तियों के रंग बदल लेते हैं। ये अवसरवादी पौधे अपनी प्रकृति तक बदल लेते हैं। इनकी शाखाओं को काटकर, किसी दूसरे पौधे की शाखाएँ जब इनमें कृत्रिम रूप से बाँध दी जाती हैं तब इनके फूलों का रंग बदल जाता है, खुशबू बदल जाती है।

आज ये महावृक्ष ऐसे ही अवसरवादी पौधों की आँखों के काँटे हैं। लेकिन महावृक्ष या महावट तो महान् ही होते हैं। ऐसे अवसरवादी और सुविधा भोगी कई नाजुक पौधों की हज़ारों ज़िंदगियाँ इन्हें कोसते बीत जाती हैं, मगर ये ज्यों–के–त्यों रहते हैं। लकड़ी की सुनहरी पन्नियों से चिपकी तलवारों के प्रहार इनका कुछ नहीं बिगाड़ पाते। ये तलवारें टूटती जाती हैं और ये महावृक्ष अपनी जगह अडिग खड़े रहते हैं।

इनका दीर्घ जीवन इन्होंने माँगा नहीं, इन्हें मिला है जिसे इन्होंने सहेजा है अपनी संकल्प–शक्ति के बल पर। इन्होंने ऐसी हरियाली उधार नहीं ली जिसे चुकाने की चिन्ता में इन्हें सूखना पड़े। इनके पुष्ट और मोटे तने इन्हें विरासत में नहीं मिले; इन तनों में धूप सहते हुए इन्होंने अपने पौरुष से जीवन–रस को संचित किया है। इन्होंने सदियों शीतल छाँह का अवदान दिया है। ये तो जीवंत जिजीविषा के प्रतीक हैं, संघर्ष करते रहने की अदम्य लालसा पाले रखनेवाले मूक साक्षी हैं इतिहास के, इन्हें शोषक क्यों कहें ?

इस पारम्परिक चिन्तन को बदलना पड़ेगा। यह धारणा बदलनी होगी कि इनकी छाँह के नीचे कोई नहीं पनप पाता और ये धरती के एक बड़े हिस्से पर बलात् कब्ज़ा कर लेते हैं। इन महावृक्षों ने कभी मना नहीं किया कि कोई दूसरे वृक्ष उगे ही नहीं। ये महावट लहलहाती फसलों के लिए कभी अवरोध भी नहीं बने। इन्होंने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए किसी की बलि भी नहीं चढ़ाई। यदि दूसरे वृक्ष वह पौरुष नहीं सँजो पाए जो इनके पास है, तो इन महावृक्षों का क्या दोष ? बड़ी विचित्र विडम्बना है कि बेर की वे झाड़ियाँ नहीं कोसी जातीं जिनके काँटे चुभते हैं, जो फैली रहती हैं खेतों में, जिनके फल खट्टे होते हैं और जिनकी जड़ें मिट्टी का रस चूसकर गेहूँ की बालियों को न पनपने देने के लिए खेतों को बाँझ बना देती हैं।

इन महावृक्षों की यह विवशता उन्हें सदैव कोसने के लिए अभिशप्त बना गई कि इनकी छाँह के तले कोई छोटे पौधे नहीं पनप पाते; लेकिन इन्हें अपने इस अवदान का कोई साधुवाद नहीं मिला कि इनके घने पत्तों और शाखों के बीच जाने कितने मूक पक्षियों के पीढ़ी दर पीढ़ी घोंसले बनते रहे होंगे, उनकी सन्तानें कितने सुकून के साथ अपना जीवन व्यतीत करती रही होंगी। घिरती साँझ के बीच इन महावृक्षों की ओर लौटते, अपने बच्चों से मिलते, इनकी शाखाओं के आसपास चहचहाते पक्षियों से इन महावटों की महिमा पूछो, जाने कितनी चिड़ियाएँ इन्हें असीसती मिलेंगी! लेकिन मुश्किल यह है कि हम इन सरल पक्षियों के बोलों का अर्थ नहीं समझते, मगर कुटिल मनुष्य का कोसना समझ जाते हैं और उस पर भरोसा भी कर लेते हैं।

लम्बी सड़कों के दोनों ओर खड़े ये बड़े–बड़े वृक्ष इस सत्य के प्रतीक हैं कि इस सड़क से इनके सरोकार किसी स्वार्थ के नहीं, क्योंकि इन्हें तो इस पर चलना ही नहीं है; लेकिन सूनी सड़क को ये भरोसा दिलाते हैं कि वह अकेली नहीं है, उस पर पड़नेवाली धूप और बारिश में वे उसके भागीदार हैं, सहभागी हैं। ऐसे ही महावटों के तले तपस्याएँ फलीभूत होती हैं। बुद्ध जब बोधि वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे होंगे, तब उस मूक वृक्ष की अपनी तपस्या ने भी बुद्ध के बुद्धत्व को जागृत किया होगा।

सिद्धार्थ और बुद्ध ये दोनों एक ही व्यक्ति के नाम हैं, लेकिन इन दोनों नामों के बीच की यात्रा का सबसे बड़ा और इकलौता पड़ाव तो बोधिवृक्ष ही है जिसके तले बैठकर सिद्धार्थ 'बुद्ध' बने। ये महावृक्ष ऐसी जाने कितनी तपश्चर्याओं के साक्षी हैं। इनकी विवशता है कि इन्हें सिर्फ अनाम साक्षी बने रहना होता है। यदि ये वाचाल होते तो इनमें से जाने कितने महावीर बन जाते, बुद्ध बन जाते। अतीत को अपनी आँखों से साक्षात् देखा है इन्होंने। यदि इन्हें वाणी मिली होती तो फिर शिलालेख निरर्थक होते, पुरानी पोथियाँ निरर्थक होतीं, इतिहासकारों को कोई ज़रूरत ही नहीं होती अनुमानों के जंगलों में भटककर निष्कर्षों के फलों को खोजने की।

ये महावृक्ष सिर्फ अतीत के साक्षी ही नहीं हैं, बल्कि जागृत इतिहास हैं लेकिन मौन। इनके पत्ते सफ़े हैं उस किताब के जिसमें जाने कितने सच्चे क़िस्से दर्ज हैं। इस किताब की जिल्द कभी पुरानी नहीं होती, सफ़े उड़ते रहते हैं और उनकी जगह नए पन्ने लेने लगते हैं।

इन महावृक्षों की छाँह में बैठो तो आज की तपन से कुछ राहत मिलेगी, बीत चुके कल के क़िस्से कुछ संकल्पों की मशाल थमा देंगे हमारे हाथों में, और आनेवाले कल की भोर हमें प्रेरित करेगी कि इन मशालों को लिये एक नई यात्रा के लिए हम चल पड़ें।

ये महावृक्ष अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीत चुके, बीत रहे और बीतने वाले क्षणों के वे जुगनू है जिनकी रौशनी भले धीमी हो लेकिन जिसमें हमारी अस्मिता अपने रास्तों की तलाश जारी रखती है।

बारूद बदले फिर पराग में

मनुष्य तो हमेशा सिंहरता आया, काँपता आया, लेकिन इस बार धरती बहुत सिहर रही है। आदमी ठंड से या भय से सिहरता है और धरती भूकम्प से। मुझे लगता है मनुष्य और धरती दोनों एक–दूसरे के भय से कंपित हैं। धरती को भय है कि यह मनुष्य उसके सौन्दर्य को लूट लेगा, भंग कर देगा निसर्ग के निश्छल शील को, और मनुष्य को डर है कि यह कहीं उसे निगल न ले, इस धरती पर जो निर्माण उसने किए हैं कहीं वे ही निर्माण धराशायी होकर उसे ख़त्म न कर दें ! धरती और मनुष्य दोनों की एक–सी मानसिकता है, दोनों का एक–सा मनोविज्ञान, दोनों के एक–से भय, एक–से अस्तित्व के संकट और एक–से मोह भी।

यह निबंध जब मैं लिख रहा हूँ तो धरती के हल्के कंपन उठ रहे हैं और इस सिहरते धरातल पर अपनी पूरी छटा के साथ पलाश फूला है, बसन्त आ चुका, डगमगाती धरती हरी चूनर ओढ़े बैठी है; लेकिन यह बसन्त भी एक सिहरन के साथ आया है, वह एक आशंकित भाव लिये आया है। हरी चूनर ओढ़े धरती सहमी–सी बैठी है। और मनुष्य ! वह भी तो बेहद आशंकित है। बसन्त के पराग से वह कुछ ऐसे छिटका खड़ा है जैसे पाँखुरियों के बीच बारूद बिखरा हो। उसे भय है कि धरती की यह मोहक और मादक अदा कहीं उसे ग़फ़लत में डालकर उसका अस्तित्व ही उससे न छीन ले। बड़ी कशमकश है दोनों के बीच। बसन्त में खिले रहना है, इसलिए धरती और मनुष्य दोनों, खिले दीखने का यत्न कर रहे हैं।

हरी चूनर पहने इस थरथराती दुल्हन की उन भावनाओं का क्या आकलन करें जिनमें अनुरागमय आलिंगन की आकांक्षा के बजाय अपने शील के असमय भंग होने का ख़तरा है ! और उस मनुष्य की हालत का क्या अंदाज़ा करें जो धरती की इस असीम उजड़ी शोभा को उजाड़ आँखों से निहार रहा है !

इस मनुष्य को अब कालिदास और पद्माकर याद नहीं आते। इसे आम्रमंजरियों और पलाश की केशरिया डालों की याद नहीं आती। इसे फाग के बोल याद नहीं आते। जाने क्यों इसे अपना अतीत याद नहीं आता, न भविष्य की कोई कल्पना मोहती है ! यह ले–देकर अपने वर्तमान में जैसे–तैसे तेजी से जी रहा है–ऐसे वर्तमान में, जिसके सौन्दर्य से भी उसके कोई सरोकार नहीं रह गए। उसका मन कहीं नहीं रमता। उसके अन्दर की काव्यात्मकता ख़त्म हो गई, रस के झरने सूख गए, जुही की कलियाँ बिना अपने सौरभ बिखेरे झर गईं, चमेली फली ज़रूर लेकिन फूलते ही कुम्हला गई, बिना स्पर्श किए लाजवंती के पत्रदल सिमट गए अपने–आप। बसन्त में भी उपवन, कहने को ही उपवन रहा। इस उपवन को पतझर ने समय से पहले ही अपने पाश में बाँध लिया। मनुष्य का मन आज बसन्त में पतझर के भुजपाश में बँधा हुआ मन है, और धरती ऐसी दुल्हन जिसे मालूम नहीं कि उसे किस डोली में बिठाकर कहाँ ले जाया जाएगा। यह परिदृश्य आज का है, आज की धरती का है, आज के मनुष्य का

है। और मैं महसूस करता हूँ कि भले धरती सिर्फ़ मेरे आसपास के गाँव की काँप रही हो, लेकिन वह तो अपनी पूर्णता में आशंकित है। बोस्निया से बुलंदशहर तक, वाशिंगटन से वाराणसी तक, जम्मू से जर्मनी तक क्यों है ऐसा? एक संवादहीनता, एक संवेदनशून्यता, एक अविश्वास का भाव, एक सन्देह के शेष का उभरा हुआ फन !

शायद इसलिए कि एक तादात्म्य भंग हुआ है। जब दोनों में तालमेल या आपसी संवाद था तब ऐसी स्थिति नहीं थी। मनुष्य अतीत के सरोवर में डूबकर, वर्तमान की शीतलता को अनुभव करते हुए, अपने सुनहरे भविष्य के परिधान बुनता था और प्रकृति बड़े निश्छल भाव से उसे दुलारते हुए इन परिधानों को सहेजकर रखती जाती थी। जब मनुष्य को ज़रूरत होती थी तब उसे ये परिधान उपलब्ध हो जाते थे, वह पहनता था और धरती के आँगन में इतरा–इतराकर घूमता था, भरपूर जीता था और जब निःशेष होता था तो पूरी परितृप्ति के साथ।

लेकिन धीरे–धीरे यह तृप्ति तृष्णा में बदलनी शुरू हुई। तृप्ति और तृष्णा में अक्षर भले तीन–तीन हों, लेकिन इनकी वर्तमान प्रकृति छत्तीस की है। मनुष्य ज्यों–ज्यों अधुनातन हुआ, वैज्ञानिक हुआ, त्यों–त्यों वह प्रकृति से निकटता खोता गया। सृष्टि के प्रति उसकी दृष्टि बदली, वह निसर्ग के निश्चल दुलार से दूर हुआ। उसने अपनी अपेक्षाएँ विकसित कर लीं। ये अपेक्षाएँ असीम थीं– इतनी असीम कि इन अपेक्षाओं के अंकुर धरती के धरातल से छिटककर आकाश में उगने का यत्न करने लगे। तब मनुष्य में दुराव जन्मा और तृप्ति से तृष्णा की इस यात्रा को बेचारी धरती बड़ी पीड़ा से देखती रही, निहारती रही।

तृष्णा कोई बुरा या त्याज्य शब्द नहीं है। शब्द तो सारे रचनात्मक हैं। मुश्किल इन शब्दों की व्यंजना की है। हम शब्द की सार्थक व्यंजना में नहीं जाते। तृष्णा यदि नहीं होती तो ज्ञान की विपुलता नहीं होती, प्रगति के नए–नए तोरण नहीं सजते; लेकिन तृष्णा ज्यों–ज्यों व्यक्तिपरक और सीमित होती गई, उसकी व्यंजना सिमटी और तृष्णा शब्द एक संकुचित और स्वार्थपरक लालसा का पर्याय बन गया। शायद सच यह है कि कभी तृष्णा और तृप्ति के रिश्ते सगी बहनों की तरह हुआ करते होंगे, लेकिन आज ये सौत के हैं। तृप्ति से तृष्णा तक की यात्रा, धरती की पीड़ा का विषय इसीलिए बनी क्योंकि मनुष्य ने कभी तृप्ति में तृप्ति नहीं खोजी, तृष्णा में सच्ची व्यंजना तलाशने की कोशिश नहीं की।

दुनिया का कोई विचार जो मनुष्य के विकास का है, प्रकृति से मनुष्य के संवाद का विरोध नहीं करता। लेकिन यह संवाद एक विचारहीनता के परिप्रेक्ष्य में टूटा है। व्यंग्य यह है कि ज्यों–ज्यों मनुष्य विचारवान हुआ, साथ ही वह विचारहीन भी हुआ। बह जितना सर्जनात्मक हुआ, उससे कहीं ज़्यादा विध्वंसक हुआ। आज दुनिया में शांति के प्रतीक सफेद कबूतर कम और ध्वंस के पर्याय बम के गोले ज़्यादा हैं। जिस ज़मीन की परतों में कभी बीज अंकुरण के

लिए बिछाए जाते थे, वहाँ अब विनाश के लिए सुरंगें बिछाई जाती हैं। बारूद सस्ता है, आटा महँगा। बच्चे पहले खेलने के लिए लकड़ी से बने नन्हे–नन्हे गृहस्थी सँवारने के बर्तन माँगते थे, अब प्लास्टिक की आटोमैटिक रिवॉल्वरें माँगते हैं। ध्वंस बड़ा सुलभ हो गया, और निर्माण के उपकरण संग्रहालयों की शोभा।

यह सब–कुछ एक तार के टूट जाने का, एक तादात्म्य के भंग हो जाने का, एक लय के बिखर जाने का, शब्दों के कंठ में फँस जाने का, तंग गलियों को राजपथ के रूप में मान्यता देकर, उनमें खो जाने का परिणाम है।

कैसे यह संवादहीनता टूटे, कैसे जुड़ाव जन्म जाए, कैसे संगीत फिर बैठ जाए दोनों के बीच–आज हम सबकी यह सबसे बड़ी चिन्ता होनी चाहिए, क्योंकि हमारे सृजन की सार्थकता हमें ही सिद्ध करनी है और साथ ही यह भी सिद्ध करना है कि मनुष्य जो आज है उससे कहीं उसे और बेहतर बनना है। उसकी यात्रा तृप्ति से तृष्णा की ओर जाने की यात्रा–भर नहीं है। उसकी यात्रा तो ऐसी अविराम यात्रा है जिसमें उसे सिर्फ चलना–भर नहीं, गढ़ना भी है और ऐसा गढ़ना है जिसे धरती भी बड़े दुलार के साथ सहेजकर रखती 'चली जाए। इसी संकल्प के साथ यदि चलने का उपक्रम हो तो मनुष्य को फिर पाँखुरियों के बीच बजाय बारूद के पराग दीख पड़ेगा और धरती भी हरी चूनर ओढ़े बड़े अनुराग के साथ बसन्त के आगमन की बाट जोहेगी।

मंगलमय कामनाओं सहित

नव वर्ष के लिए असीम और अशेष कामनाओं का अग्रिम आगमन शुरू हो गया। कामना तो मंगल की ही होती है। अमंगल की कोई कामना नहीं करता; वह अमंगल कर देता है। कामना करने में कुछ पास से जाता भी नहीं, इसलिए मंगल कामनाएँ बेहद इकट्ठा हैं और इन्हीं के बीच घिरा मैं आनेवाले वर्ष के अमंगलों की कल्पना करते–करते थरथरा रहा हूँ, भयभीत हो रहा हूँ, आशंकित हूँ।

जाने कितने बरस बीत गए मंगल कामनाओं के बोझ तले अमंगल को जीते ! जन्म के बाद से जब से स्मृति है, शायद ही कोई आशापूर्ण वर्ष आया हो, ऐसा मांगलिक वर्ष जब अमंगल नहीं आया हो जीवन में। हर वर्ष जो कुछ हाथ आया, उससे कहीं ज़्यादा चला गया। ब्याज की दरें बढ़ती गईं और मूल पूँजी का क्षय होता गया। हर भोर की पहली किरन ऋण की सौगात सौंप गई और साँझ की अंतिम किरन इस ऋण पर दिनभर लगे ब्याज की दर का हिसाब।

पहले सिर्फ ऋणी होते रहे, बाद के दशकों में चिर–ऋणी हो गए। मांगलिक कामनाओं की ऐसी परिणति ? अतीत के भी ऋणी, वर्तमान के भी, भविष्य के भी।

यह क्या हो गया हमें और हमारे कारण देश को कि हर नया वर्ष आतंकित करता है ? मंगल कामनाएँ हमें झकझोरती हैं, मन उन्मन हो उठता है। क्या कमी चली आती गई कि हम समृद्ध नहीं हो पाए ? समृद्धि के सँकरे अर्थों में तो हम जाने कितनी उपलब्धियाँ गिना देंगे, लेकिन समृद्धि की समग्रता में तो हम निर्धन हैं, घोर निर्धन, विपन्न और अकिंचन। हम मनुष्य हैं और मनुष्य की समृद्धि के प्रतीक हैं–औदार्य, सहिष्णुता, सौहार्द्र, बंधुत्व, वसुधैव कुटुम्बकम् और ऐक्य। मनुष्य निर्धन तब होता है जब वह अनुदार हो, असहिष्णु हो, वैरी हो, विभाजित हो। विपन्न तब होता है, जब उससे उसका रस छिन जाए; और अकिंचन, दीन और दरिद्र तब होता है, जब उससे उसका आत्मपौरुष रूठ जाए। धनी जाने कितने होंगे, लेकिन शायद ही कोई समृद्ध हो।

सदियों पहले के हमारे पुरखे भले धन की दृष्टि से निर्धन रहे हों, लेकिन मनुष्य की दृष्टि से बड़े समृद्ध, पौरुषेय और जिजीविषा से भरपूर थे। यह कमी इसलिए आई, क्योंकि हमने समृद्धि की व्यंजना को वैभव में खोजना शुरू कर दिया। वैभव की जगमग ने मन डगमगा दिया, मन दौड़ पड़ा निर्धन होने। उसने उदारता खोई, बंधुत्व खोया, एक यांत्रिकता ओढ़ी, रस छोड़ दिया और वैभवपति हो गया। इस दौड़ में वह नहीं जान पाया कि वह कितना विपन्न होता चला गया है। वैभव पाकर, जगमग ओढ़कर वह मान बैठा कि वह धनाढ्य हो

गया, लेकिन इस धन ने उसे मजबूर किया कि वह दौड़ता रहे और खोता रहे। दौड़ने की गति ज्यों–ज्यों तेज़ हुई, उसके स्वत्व का तेज घटता गया।

समृद्ध मनुष्य संतुष्ट होता है, लेकिन वैभवपति की लिप्सा कभी तुष्ट नहीं होती। कह सकते हैं कि संतुष्ट हो लेना तो अपूर्णता है; थम जाना, विराम पा लेना यात्रा को स्थगित कर देना है और ये लक्षण विकास–यात्रा के अवरोध हैं, परिमार्जन की सतत प्रक्रिया को रोकनेवाले हैं। मगर सच तो भिन्न है। संतुष्टि का अर्थ गति का थम जाना नहीं होता, बल्कि संतुष्टि का सार्थक बोध तो सही है कि हमारा नैरन्तर्य खंडित नहीं हुआ। हम गतिमान हैं, हम संघर्षरत हैं कुछ गढ़ने को; कुछ बन रहे हैं आकार अवरोधों के होते हुए भी। नित्य कोई संकल्प जन्म रहा है। एक बाती यदि बुझ जाती है, तो दूसरे दिए की लौ बल पकड़ लेती है। यदि यह सब होते रहने से एक संतोष मिलता है, तो यह संतोष, यह परितृप्ति विराम की परिचायक नहीं। प्यासे रहकर भी यदि यह अनुभव हो कि यह प्यास बनी रहे और इस प्यास को बुझाने की रचनात्मक कोशिशें होती रहें, तो यही सच्ची समृद्धि का संतोष–भाव है।

लिप्सा तो नितांत भिन्न है। लिप्सा सिर्फ़ अपने लिए ही जागी रहना चाहती है। वह औरों के शोषण पर अपने अस्तित्व को बनाए रखना चाहती है। वह निरन्तर भागती है, बिना भेद के अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए सब–कुछ रौंदती है और इसे संघर्ष कहती है। छद्म संघर्ष के इन लक्षणों की पहचान ज़रूरी है, अन्यथा जाने कितने नव वर्ष आकर जाते रहेंगे, मंगल कामनाओं की छत के तले अमंगल की वर्षा हमें भिगोती रहेगी।

हम कहने को ज़रूर छत बनाते हैं, लेकिन ये छतें आश्रय या अभय नहीं देतीं, अनिश्चितता और आतंक देती हैं। इन छतों को बनाकर हम पछताते हैं, डरते हैं, सोचते हैं। इससे भले और निर्भय तो खुले मैदान में ही थे।

हर इकतीस दिसंबर की रात बारह बजे जो जामों की टकराहट गूँजती है, पटाख़ों की आवाज़ गूँजती है, उसके खोखलेपन और निस्सारता का अंदाज़ा दूसरी सुबह ही हो जाता है। हम विचार के साथ कुछ मनाते ही नहीं। हमने विचार के साथ कुछ करना ही छोड़ दिया। विचार के साथ जीना छोड़ दिया। जीते हैं, तो इसलिए कि जाने कितने पारिवारिक दायित्व निबाहने हैं, कुछ भविष्य के लिए जोड़ना है। हमारी तरुणाई अपने बुढ़ापे को सुरक्षित रखने की चिन्ता में गुज़रती है और बचपन एक भोले भाव में आसपास की यंत्रणाओं को देखते–देखते कब बीत जाता है, मालूम ही नहीं होता। हम जीते ज़रूर समूह में हैं, लेकिन अपनी इकाई को बिल्कुल अलग रखते हैं; कहीं समन्वय का भाव नहीं। सिर्फ समूह में रहने का दायित्व एक अछूत बोध के साथ निभा देते हैं और निभ जाते हैं। विचार के साथ महावीर जिए, बुद्ध जिए, कबीर जिए और वे बिना किसी मंगल कामना के बड़ा मांगलिक जीवन जीते हुए, विश्व–मंगल की भावना दे गए; मंगलमय कैसे हो पाएँ यह पद्धति दे गए। हमने उनके विचारों को पकड़

लिया एक प्रणाली की तरह और उस प्रणाली के पुर्जे बनने की कोशिश करने लगे। यदि उनके विचारों को जीवन में आत्मसात् कर लेते तो स्थिति बदलती, लेकिन हमने उन्हें आत्मसात् नहीं किया, ओढ़ लिया। ओढ़ने और आत्मसात् करने में यही फर्क है कि आत्मसात् करने से जीवन का कायाकल्प होता है, जबकि ओढ़ लेने से ओढ़ी हुई चादर जब फटकर तार–तार हो जाती है, तो फिर वही ठहरा हुआ जीवन हमारे पास होता है, जो हमारे चादर ओढ़ने के पहले हमारे पास था। इसलिए औपचारिक मंगल कामनाएँ चादर की तरह होती हैं, जो ओढ़ी तो जा सकती हैं, आत्मसात् नहीं की जा सकतीं !

नए साल के आगमन की बेला में मंगल कामनाओं के बीच, ऐसा ही अमांगलिक चिंतन जारी है। लेकिन क्या ऐसा ही चिंतन जारी रखना है ? क्या ऐसे ही नैराश्य के बीच आनेवाले साल को भी विदा देना है ? क्या ऐसा ही एक वर्ष जीवन में और जोड़ लेना है, जिसकी भिन्नता कोई पूर्व–वर्ष से न हो ? नहीं, मंगल की कामना के पीछे यह भाव तो है ही कि हम मंगलमय जी जाएँ। कामना के पीछे एक चिन्गारी तो है, भले अलाव की आँच न हो। तो फिर क्यों कोशिश न करें कि यह चिन्गारी एक अलाव में तब्दील हो जाए? आँच तो चिन्गारी में भी होती है, और जब यह आँच सामूहिक हो जाती है तो अलाव जलने लगते हैं। इस चिन्गारी का फैलना ही तो हमारा समृद्ध होते जाता है; दैन्य, अकिंचनता और विपन्नता से मुक्त होते जाना है; धनिकता और वैभव त्यागकर, निर्धन होकर समृद्ध होते जाना है। करना सिर्फ़ इतना है कि ओढ़ने और आत्मसात् करने में फ़र्क करना सीख जाएँ। इसके लिए न तो किसी प्रयास की ज़रूरत है, न अभ्यास की। किसी पूजा, वंदना, अर्चना और ध्यान की भी आवश्यकता नहीं।

सिर्फ़ एक अनुभव के बीच से गुज़रना है। अनुभव हो उदारता का, सौहार्द्र का, बंधुत्व का, आत्मीयता के स्पन्दन का। इस अनुभव के बीच से गुज़र जाने पर पता चलेगा कि हम इकाई नहीं रहे, समृद्ध हो गए, हमारा अकेलापन दूर हुआ, हम स्वयं में दीप्त हो उठे, जीवंत हो उठे, पराश्रित नहीं रहे, सरोवर से सरिता हो गए, तटबंध तोड़कर बह चले, गति पकड़ ली, प्रवाह को समो लिया, एक औपचारिकता त्याग दी और मंगल को आत्मसात् कर लिया।

नया वर्ष ऐसा हो हमारे लिए कि हम मानकर चलें कि अमंगल करनेवाले अमंगल करेंगे, लेकिन हम भयभीत न हों, आशंकित न हों, थरथराएँ नहीं, बल्कि एक संकल्प लिये एक अनुभव से गुज़र जाएँ। धीरे–धीरे लगेगा कि बहुत–कुछ बदल गया; लगेगा कि यह नया वर्ष तो भिन्न है, पुराने गुज़रे बरसों की तुलना में; लगेगा कि भोर की पहली किरण ऋण की सौगात नहीं सौंप रही, बल्कि समृद्धि की धरोहर सौंप रही है; लगेगा कि जीवन यंत्र नहीं रहा; लगेगा कि शुरुआत किसी विचार के साथ हो रही है; मन उन्मन नहीं होगा, लिप्सा की ललक नहीं होगी। एक छद्म संघर्ष अपने–आप ख़त्म हो जाएगा। और जो संघर्ष शुरू होगा, वह अपने स्वत्व को दृढ़ करेगा, उसे तेजस्वी बनाएगा, निर्माण के नूतन शिल्प देगा– चिरस्थायी, सुदृढ़ और अभेद्य।

नए साल का रूप मुझे किसी भरपूर सौरभ के साथ, अपना मधु छलकाते पूर्ण खिले फूल–सा लगता है कि बैठो उसकी पाँखुरियों पर, मधु को आत्मसात् कर उसकी ऊर्जा से उड़ चलो, उत्तुंग शीर्षों को स्पर्श करने, और इन पाँखुरियों को यह उड़ान तब तक देखने दो, जब तक कि अगले बरस की बंद कली की पाँखुरियाँ खिल नहीं जातीं।

हम मिलेंगे राह में, अक्षत लिये हर मोड़ पर

आज एक जनवरी है। नए साल का पहला दिन। आज जब उषा उपने लाल आँचल को सँवारती इसे पहली किरन की सुनहली सौगात सौंपने आई होगी तो इसे अटपटा–सा लगा होगा, उस बन–पाँखी की तरह जिसकी देह अपने आवरण की सतह को तोड़कर बाहर निकल आई और जिसने पहली बार आँखें खोलकर अपने आस–पास फैला आलोक देखा।

नए साल का पहला दिन और किसी पँखेरू का सद्यजात शिशु, दोनों एक–से ही हर दिन एक–सा नहीं होता।

दिन भी आदमी की भाँति होते हैं, जिनकी अपनी प्रकृति, अपना विचार, अपनी आदत, अपना कर्म और अपनी नियति होती है। दिन के इस निजत्व पर किसी का अधिकार नहीं रहता। हर दिन हर आदमी की तरह एक–दूसरे से भिन्न होता है, इसलिए नए बरस का यह पहला दिन भी अपनी क़िस्म का अलग दिन है।

उषा के लिए तो हर दिन एक–सा होता है, लेकिन हर दिन के लिए तो उषा की पहली सुनहली सौगात अजनबी ही होती है। नए साल का यह पहला दिन भी अपनी पलकें खोलकर भोर में जब उषा से उसकी पहली किरन ले रहा होगा तो यह सौगात थामते समय उसके हाथ कुछ थरथराए होंगे, आँखें कुछ देर को चुँधिया गई होंगी, ओठ खोलकर इस दिन ने कुछ उससे पूछने की भी कोशिश की होगी, लेकिन बजाय उत्तर देने के उषा ने उसे अपने उत्तर खुद खोजने के लिए अपने कर्म–पथ की तरफ मोड़ दिया होगा।

कोई और दिन होता तो शायद वह बतिया लेती, लेकिन नए साल के पहले दिन के साथ उसका सलूक अदबियत–भरा रहता है। क्योंकि, यह पहला दिन एक बहुत बड़ा साक्ष्य होता है इतिहास का। यह दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि यह अतीत और भविष्य के बीच की दहलीज़ होता है। इसे बिना लाँघे भविष्य के आँगन में पाँव नहीं रखे जा सकते और बग़ैर इसके अस्तित्व का परदा उठाए अतीत में झाँका भी नहीं जा सकता।

पहली जनवरी बच्चन की इस पंक्ति की तरह है–

"इस पार प्रिये तुम हो, मधु है, उस पार न जाने क्या होगा।"

बीते बरस का मधु तो इस दिन की धरोहर है, लेकिन आगे क्या है ? यह तो इसे भी नहीं मालूम।

नए बरस के इस पहले दिन को यदि शिखर मानें तो इस पर चढ़कर गुज़रे बरस के तीन सौ पैंसठ दिनों पर निगाह डाली जा सकती है। ये तीन सौ पैंसठ दिन बँटे हैं। इनकी

निजता को बाँटकर अपने–अपने साँचों में इनमें पाने या खोने के प्रतीक–आकार तलाशे जा सकते हैं। बीते बरस के दिनों में राजनीतिज्ञों ने 'हिन्दु', 'हिन्दुजा' से होते हुए, एन. राम और अयोध्या के राम के बीच 'तोप' से उपजे कोप को खोजा और इस कोप ने किसी को कुर्सी सौंप दी और किसी को मातमपुर्सी। इन गुज़रे दिनों ने समाज को कई घटनाएँ दीं। मदर टेरेसा और बाबा आमटे जैसे कर्मयोगियों ने अपनी मशालों को और ऊँचा किया। अर्थशास्त्रियों ने इन दिनों में शेयर बाज़ार के उतार–चढ़ाव तलाशे। किसी को रिलायंस में रिलायबिलिटी दिखी तो किसी को लगा कि इसके इनवेस्टमेन्ट में कोई फ़ायदा नहीं। गुज़रे तीन सौ पैंसठ दिन इस सच के उजागर साक्षी रहे कि 'राजा' और 'अर्थ' एक–दूसरे पर आश्रित हैं और यह आश्रम अम्बानी से अमिताभ तक फैला है।

'गुज़रे दिन' साहित्य, समाज, कला और संस्कृति के क्षेत्रों में हुई अनेकानेक घटनाओं के साक्षी रहे। इन क्षेत्रों में भी अमूमन वही घटित होता रहा जो पूर्व से ही घटता रहा है। जब हम सब बजाय बढ़ने के, कहीं ऊँचे प्रतिष्ठित होने के, अपने–आप ही घटने को उतारू हो जाएँ तो सिर्फ घटनाओं की पुनरावृत्ति होना है, नया कुछ हासिल नहीं होना और रुपए की तरह खुद के मूल्यों का अवमूल्यन होना है। यदि बीते साल के तीन सौ पैंसठ दिनों का आकलन क्षेत्रवार करने की कोशिश करें तो यह लगेगा कि हमारे पास सिर्फ़ विश्लेषण और व्याख्या के लिए शब्द ही शब्द हैं, किसी ठोस और मौलिक उपलब्धि को गाने के लिए न तो स्वर हैं और न ही छंद।

बीता बरस मुझे कोई मोटा भाष्य–सा नज़र आता है जिसमें सिर्फ़ टीकाएँ ही टीकाएँ हैं। इस बरस के किसी भी दिन में मुझे कहीं तुलसी की कोई अर्द्धाली या कालिदास के श्लोक की एक पंक्ति की भी झलक नहीं दीख पड़ी।

पूरा बरस तनाव की नाव पर बैठे हम लोगों ने पार किया। अलगाव, संकीर्णता, वैर और कटुता के घड़ियालों से भरे इस बीते बरस के सागर में नाव तैरती रही और आज एक नए साहिल पर लग गई। साहिल ज़रूर नया है लेकिन नाव वही है। आशा करनी चाहिए कि नाव भी बदलेगी और हम सब अब उस सागर के बीच सफर करेंगे जिसमें कोई ऐसे घड़ियाल नहीं होंगे, सिर्फ़ तैरती आकर्षक मछलियाँ होंगी जिनके पेट में वे अँगूठियाँ होंगी जिन्हें पा लेने पर दुष्यंतों की सुषुप्त स्मृतियाँ जाग जाएँगी और वे पहचान लेंगे अपनी शकुन्तलाओं को, स्वीकार कर लेंगे अपने भरतपुत्रों को। हम उम्मीद करें कि आगामी वर्ष के सागर की तरंगों के बीच वे दिन उगेंगे जिनमें टीकाएँ ही नहीं होंगी, मानस और गीतगोविन्द भी होगा।

नए साल के इस पहले दिन पर बेहतर यही है कि उस सब कटुता और कँटीलेपन भुला दिया जाए जो हम सह चुके। घाव यदि कुरेदे जाते रहे तो हमारी देह विकृत ही बनी रहेगी। इसलिए ज़रूरी यह है कि पुरानी विषैली स्मृतियों को इस एक जनवरी को विस्मृत कर

दिया जाए, नहीं तो इनके दंश इस बरस भी हमें चुभते रहेंगे। इस नए साल की पहली तारीख़ को हम सिर्फ पाँखुरी ही चुनें पाटल की जिसमें सुगंध हो, सौन्दर्य हो, काव्य हो, और छोड़ दें उन काँटों को जिनकी चुभन से सिर्फ दर्द ही लहू की शक्ल में रिसता है।

पाटल की पाँखुरी नेह का कोमल मर्म होती है और काँटे सिर्फ़ चुभन।

नया बरस तीन सौ पैंसठ पाँखुरियों का पाटल पुष्प सिद्ध है, तीन सौ पैंसठ काँटों का नहीं।

नव वर्ष की तिथियाँ कई हैं। कोई गुड़ी पड़वा से, कोई पहली जनवरी से, कोई हिज्री के हिसाब से। लेकिन तिथियाँ तथ्य नहीं बदल सकतीं, इतिहास नहीं बदल सकतीं और न ही भविष्य को बदल सकती हैं। वे तो मूक साक्षी भर हैं हमारे कर्म की। संवत् हों या सन्, वे सिर्फ़ गवाही होते हैं; फैसले नहीं होते। फैसले वे होते हैं जो इन संवतों और सनों के सफ़ों में हमारे कर्म के रूप में अंकित होते हैं, इनमें छुपे रहते हैं; और जब इन सफ़ों को पलटा जाता है तब फैसले से हम रूबरू हो जाते हैं। इसलिए यदि किसी भी तिथि से, किसी भी साल का आरम्भ होना माना जाए तो यह भी मानना चाहिए कि हम इस बरस के हर दिन को पाटल की पाँखुरी की तरह सिद्ध करेंगे।

हम लोग नए साल के पहले दिन को बहुत सुखद और आह्लादमय देखना चाहते हैं; उसकी स्मृतियों को सँजोकर, सहेजकर रखना चाहते हैं; लेकिन ऐसा हर दिन बीते, इसके लिए धर्म बहुत कम हैं। हमने धर्मों के हिसाब से नए साल की तिथियाँ तय कर लीं, लेकिन यह तय नहीं कर पाए कि क्या यह तिथि सिर्फ़ एक ही हो, सिर्फ़ पहली तिथि ? सुख और आह्लाद के लिए, मैत्री और एकता के लिए यदि तीन सौ पैंसठ धर्म भी बना लिये जाएँ तो इससे अच्छी दूसरी बात नहीं होगी। तब कम–से–कम धर्म भले बहुत हों लेकिन उनका स्वर तो असांप्रदायिक होगा–करुणा, मैत्री और भाईचारे से ओतप्रोत होगा।

मैं हर पहली जनवरी पर यही सब सोचता हूँ, लेकिन दूसरी जनवरी से ही उस आग में झुलसने लगता हूँ जो धर्मों के नाम पर फैली संकीर्णता से उपजती है, अलगाववाद और कटुता से उपजती है। मैं धार्मिक होना चाहता हूँ, लेकिन ये कथित धर्म मुझे धार्मिक नहीं होने देते और मेरे–जैसे कई निरन्तर बस झुलसते रह जाते हैं।

कम–से–कम इस बरस मैं फिर उम्मीद में हूँ कि दूसरी जनवरी से किसी चिन्गारी से मेरा सामना नहीं होगा। चिन्गारी से उपजे घाव बहुत कम भर पाते हैं, और यदि भर भी गए तो फिर पतझर में भी नागफनी की तरह उग आते हैं। कोई दूसरी जनवरी इन घावों की साक्षी न बने–यही हम सब की उम्मीद होनी चाहिए।

हम सभी एक–दूसरे को नव वर्ष की शुभकामनाएँ देते हैं, लेकिन इन शुभकामनाओं में सिवाय औपचारिकता के कुछ और नहीं होता। इनमें औपचारिकता की बजाय एक–दूसरे के दर्द को दूर करने के उपचार निहित हों तो यह नए वर्ष पर किया गया उपकार होगा।

नया वर्ष आ गया। इस पहली जनवरी को सभी अपने–अपने ढंग से मना रहे हैं। आज एक नई किताब का पहला सफ़ा खुला है। तीन सौ पैंसठ सफ़ों की यह किताब इतिहास की गवाही और धरोहर बनने जा रही है और इसके बनानेवाले हम हैं।

यह बरस भी बीत जाएगा, लेकिन यह ऐसा बीते कि हम सब आनेवाले सालों के बारे में भी यही कामना करते रहें कि जैसा सुखद यह बरस बीता, वैसे ही आगे आने वाले बरस एक आदर्श साक्षी बनें घटनाओं के, उजली उपलब्धियों के, नए शिखरों के स्पर्श के। इतने सार्थक साक्षी बनें कि हम कहते रहें–

आप लौटें या न लौटें
फिर पुरानी राह से
हम मिलेंगे राह में
अक्षत लिये हर मोड़ पर।

चलो फिर पास दिए के

चलो फिर चलें दिए के पास। सूरज के पास तो जा नहीं सकते। उसे तो इतना अहंकार है अपने आलोक का कि वह तो उसकी तरफ निरन्तर देखने की इजाज़त भी नहीं देता। बस इतना ही अधिकार देता है कि उसकी रौशनी में जीने की आदत डाल लो। लेकिन दिया बिलकुल भिन्न है। उसकी वर्तिका को खुद प्रज्वलित कर लो और फिर दीपशिखा के स्निग्ध आलोक में सारा अँधेरा तिरोहित कर दो, घोर अमावस का वह तिमिर भी जिसे सूरज तक नहीं मेट सकता। दिये की लौ से निकलती रौशनी बड़ी आत्मीय ऊष्मा और उजास देती है; तपन नहीं देती, चुँधियाने की पीड़ा नहीं देती। आँखें चुँधिया जाएँ तो पलभर अँधेरा छा जाता है, फिर कुछ दिखाई नहीं देता। यह सूरज के दर्प की अभिव्यक्ति है; लेकिन दिए के साथ ऐसा कुछ भी नहीं। झिलमिलाती सारे वातावरण में तैरती ऐसी अहंकारहीन उजास कि जो मुँडेर–मुँडेर और मन–मन, हौले–हौले बड़े अनौपचारिक भाव से प्रविष्ट होती है और फिर हमारे सारे अस्तित्व को बाहर और अन्दर दोनों से जगमगा देती है।

आत्मीयता की आँच से नहला देने वाली दिए की इस रेशमी रौशनी के आगे दिनकर की दैदीप्यमान दीप्ति बड़ी बौनी है।

लेकिन क्या बात है कि ऐसे दिए के पास हम सिर्फ़ दीपावली को ही जाते हैं ? दीप की वर्तिका के प्रज्वलन का यत्न, इन दीपशिखाओं की आत्मीय उजास से हौले–हौले अपने पूरे अस्तित्व को जगमग कर लेने का प्रयास, राम और लक्ष्मी का स्मरण कर अपने भावी वर्ष को उजाले और उपलब्धियों से पूरित करने की अभिलाषा क्यों एक त्यौहार के रूप में सिर्फ़ दीपावली को जागती है ? क्यों जागती है यह लौ ? और क्यों यह ज्योति–जागरण सिर्फ़ एक अमावस के तिमिर को तिरोहित करने में सिमटकर रह जाता है ? यह त्यौहार हमारा है या दीपों का ? दीपों की शिखाएँ सिर्फ एक रात जाग्रत् हों, झाड़–पोंछकर आरतियाँ सँजो ली जाएँ और इनमें जल उठें दीप–ज्योतियाँ सिर्फ एक रात, तो यह त्यौहार तो सिर्फ दीपों का हुआ, आरतियों का हुआ, नीरांजनाओं का हुआ, हमारा कहाँ हुआ ? हमने जगमगा दिए दीप और फिर उन्हें अगली दीपावली तक सहेजकर रख दिया तो यह त्यौहार तो दीपों का हुआ, हमारा कहाँ ? जबकि दीपोत्सव तो हमारा त्यौहार है, हमारे उजास से भरपूर हो उठने का त्यौहार है। इस त्यौहार को हमने प्रकाश से, राम से, लक्ष्मी से जोड़ा है। दीप तो इस उत्सव की अभिव्यक्ति के प्रतीक–भर हैं।

ज़रा पीछे मुड़कर तो देखें कि यह दीपोत्सव हमारा त्यौहार क्यों है ? क्यों इसे जोड़ा गया लक्ष्मी से, राम से, अंततः प्रकाश से और वह भी दिए के प्रकाश से ?

लक्ष्मी के वे अर्थ हैं ही नहीं अपनी पूर्णता में, जिन अर्थों में हम आज लक्ष्मी को पूजते हैं। ऋग्वेद के श्री सूक्त में लक्ष्मी के 70 नाम हैं और इन नामों की व्यंजना बड़ी विराट है।'श्री' का अर्थ केवल वैभव नहीं बल्कि शक्ति भी है, सौभाग्य भी। लक्ष्मी का आशय–सिर्फ़ समृद्धि नहीं, बल्कि लक्ष्मी का अर्थ शुभाशुभ को लक्षित करने, निवास और निर्माण में प्रकृति को प्रेरित करने और ज्ञानस्वरूप लक्षणीया होने से भी है। लक्ष्मी ज्वलंती हैं (दीपमयी), हरिणी हैं (पाप–शापों को दूर करनेवाली), मनोज्ञा, माता, प्रभासा और भूदेवी हैं। आज भी दीपावली पर ग्वालनों के रूप में लक्ष्मी की मूर्तियाँ गाँव–गाँव बिकती हैं जिनमें एक मूर्ति के दोनों ओर दीपकों की शृंखलाएँ गढ़ दी जाती हैं, यह वास्तव में दीप–लक्ष्मी है–भूदेवी और ज्वलंती का सम्मिलित आकार, जो निर्धन लोकमानस को बहुत भाया। वह स्वर्णिम लक्ष्मी तो नहीं पूज पाया लेकिन उसने अपनी दीपलक्ष्मी को गढ़ लिया। मिट्टी और प्रकाश से बड़ा क्या हो सकता है ? इन दोनों से अधिक पूजनीय और कौन होगा? मिट्टी हमारी देह है और आलोक प्राण। हमारे लोकमानस ने दीपलक्ष्मी के इसी रूप की आराधना की, उसके आलोक को भरपूर भर लिया अपनी साँसों में, और फिर अपने कर्म से वह देश के भविष्य को कामना–भाव से गढ़ने में तल्लीन हो गया। लेकिन आभिजात्य ने भूदेवी और ज्वलंती को विस्मृत कर दिया। पूजा भी तो 'श्री' को, 'तृप्ता' को, 'महाधना' को, हिरण्यवर्णा और सुवर्णकांति को। लक्ष्मी से जुड़ा यह त्यौहार बहुत पहले बिना किसी भेदभाव के 'कौमुदी महोत्सव' के रूप में मनाया जाता था जिसका उद्देश्य था शरद का स्वागत करना, लेकिन बाद में यह दीपमालिका–उत्सव बन गया। ब्रह्मपुराण में यह 'मंगल मालिका' पर्व है और उससे पहले 'धान्योत्सव'। धान्योत्सव एक लोकपर्व था जिसमें शनैः–शनैः परिवर्तन आया और यह धान्योत्सव केवल धन–उत्सव बनकर रह गया। धान्य के विस्तार से आरंभ होकर धन में सिमट जाने की यह महापर्व यात्रा, हमारे संकुचित होते संस्कारों की यात्रा रही जबकि हमारे पुरखों की यह क़तई मंशा नहीं थी कि इस यात्रा की परिणति ऐसी हो। हमारे पुरखों के लिए धान्य पूज्य था, भूदेवी पूज्य थी, ज्वलंती पूज्य थी और सही अर्थों में हमारा लोकमानस आज जिस ग्वालन को पूजता है, ज्वलंती और भूदेवी के समन्वित आकार को पूजता है, वही इस महापर्व की आत्मा और उजास की सच्ची अस्मिता है।

इस पर्व को राम से जोड़ा गया। राम जब अयोध्या इसी दिन लौटे तो समूची अयोध्या इनके स्वागत को तत्पर हो उठी, अपने हाथों में दीपशिखाएँ थामे, आँगन– आँगन, द्वार–द्वार दीपक जलाए गए। राम के अयोध्या लौट आने की खुशी में जलाए गए दीप राम के व्यक्तित्व का अभिनन्दन करने के लिए जलाए गए दीप नहीं थे, वे तो उस महान् कर्म की आरती उतारने को जलाए गए दीप थे जिस कर्म–शक्ति ने दानवीयता का अंत किया। लेकिन कर्म को ज्योतिर्मय करने की अपेक्षा हम व्यक्ति को ज्योतिर्मय करते गए। फिर यह व्यक्ति भी विलीन हो गया और शेष रह गए दीप। कर्म का स्थान व्यक्ति ने लिया, व्यक्ति का स्मृति ने, और स्मृति की जगह दीप ने ली और इस तरह यह 'अनुभूति–पर्व', प्रतीति–पर्व, एक प्रतीक–पर्व में बदल

गया। सोचने के ढंग में बड़ा अवसरवादी बदलाव आता चला गया, प्रतीति लुप्त होती चली गई, कर्म–ज्योति का निःशेष होना शुरू हुआ और शेष रह गई वह राख जो प्रतीति को प्रतीक बना गई। जब तक यह चिंतन का ढंग नहीं बदलता, हमारे पूर्वजों की उस भावना का सम्मान नहीं होगा जिससे प्रेरित हो उन्होंने राम और लक्ष्मी की सार्थकता के रूप में यह उत्सव हमारी परम्परा की माला में गूँथा। उन्होंने कर्ममय राम की आराधना के लिए, एक समर्थ इच्छा–शक्ति की अभ्यर्थना के लिए यह पर्व रचा, क्योंकि गतिशील कर्म ही राम है और दृढ़ इच्छा शक्ति लक्ष्मी।

हमारे शिल्प को देखें, लक्ष्मी को माता के रूप में बहुत उकेरा गया। माता के रूप में लक्ष्मी का प्राचीनतम शिल्प तीसरी सदी ईसापूर्व के सातवाहन काल का है। तक्षशिला से प्राप्त मौर्यकालीन लक्ष्मी की मातृ–प्रतिमा जो दूसरी या तीसरी शताब्दी की है, वह विक्टोरिया एण्ड एल्बर्ट म्यूज़ियम लंदन में है। मथुरा संग्रहालय में एक शुंगकालीन लक्ष्मी की मातृ–प्रतिमा है जो दूसरी सदी ईसापूर्व की है; माथुरी कला का एक बेहद सुन्दर शिल्प है, यह कुषाण कालीन है। इसमें उनके अन्नपूर्णा स्वरूप को प्रदर्शित किया है। इस मूर्ति में लक्ष्मी अन्न की बाली लिये हुए है जो यह प्रदर्शित कर रही है कि माता के दूध और अन्न से प्राणियों का भरण–पोषण होता है। सप्तमातृकाओं में एक माता लक्ष्मी है। लेकिन लक्ष्मी का यह मातृ–रूप, अन्नपूर्णा–रूप खो गया, उनका सुवर्णा–रूप स्वर्ण में खो गया जबकि यह सुवर्ण–निधि सभी की है क्योंकि वह माता है, अन्नपूर्णा और तर्पयंती है। लक्ष्मी को शुभ्रता से, पद्म से, सौभाग्य से जोड़कर शिल्पित किया गया, लेकिन यह परम्परा भी उनके स्वर्ण–स्वरूप में सिमट गई।

तथ्य यही है कि चाहे हमारा आदिचिंतन हो या शिल्प, चित्रांकन हों या लक्ष्मी के स्मरण का कोई और प्रसंग, समृद्धि, वैभव और आभिजात्य कभी लक्ष्मी के अस्तित्व के मूल में नहीं रहे। यह केवल हमारे संकीर्ण सोच की परिणति रही कि लक्ष्मी और राम को हमने इच्छा–शक्ति और कर्म से परे कर दिया।

प्रश्न यह है कि क्या अँधेरा वही जो हमारी आँखें देखें ? क्यों रौशनी वही जिसमें जीने की हमें आदत हो गई ? क्या अँधेरा और आलोक वही जो हमारी आँखों की पुतलियाँ परिभाषित करें ? क्या दीपावली के मायने यही कि सिर्फ़ एक अमावस के अंधकार को दीपशिखाओं का प्रकाश सिर्फ़ एक रात के लिए निगल ले और दूसरी रात भरपूर हो अँधेरे से?

नहीं; सही तो यह है कि अँधेरा वहाँ समाया है जहाँ आँखों की पुतलियों की पहुँच नहीं। अँधेरा और उजाला, दोनों ही वहाँ तक विद्यमान हैं जहाँ तक आँखों के देख पाने की क्षमता नहीं। हम एक भ्रम में जी रहे हैं। अँधेरा है, पर मान बैठे कि वह दूर हो गया; रौशनी गुल है, मगर हमें चिराग़ जलते दीख पड़ रहे हैं। यही भ्रम दूर होना ज़रूरी है, अन्यथा कृत्रिम दीपावलियों को मनाने का सिलसिला थमेगा नहीं।

हमारे पुरखों ने इसीलिए दिए के पास जाने की बात कही कि हम कभी इस भ्रम को न पनपने दें; उस उजास को भरपूर अपनी साँसों में भरते रहें जिसके जन्मदाता हम स्वयं होते हैं। दिए के प्रकाश से अंततः इस पर्व को जोड़ने के पीछे यही भावना थी कि हम स्वयं प्रकाश पैदा करें और प्रकाशमान हो उठें। हम दीपलक्ष्मी को पूजें जो आलोक और मिट्टी को गूँथकर हमारी आदि–निश्छल चेतना ने बनाई। उस कर्मण्यता की अभ्यर्थना करें जिसके सच्चे प्रतीति–पुरुष राम थे।

मेरा छोटा बच्चा अभी–अभी बाज़ार से एक ग्वालिन खरीद लाया है, मिट्टी की मूरत जिसके दोनों ओर दीप–श्रृंखलाएँ गढ़ी हैं। उसके ओठों पर मुस्कान तैर रही है। ज्यों–ज्यों उसकी मुस्कान गहराती है, त्यों–त्यों उस मूरत के आसपास गढ़े दिए अपने– आप मानो प्रज्वलित हो उठते हैं। देखता हूँ शिखाएँ ऊपर उठ चलीं और अंदर–बाहर दोनों का तिमिर तिरोहित हो चला।

यह सार्थक दीपावली है। दिए के पास मैं भी हूँ, मेरा भविष्य भी; उसकी उजास में दोनों भीगे हैं। मेरे द्वार के भीतर विराजी इस दीपलक्ष्मी को दोनों अपनी अंजुरियों में भरे प्रणाम बिखेर रहे हैं और द्वार के पार बिखर रही हैं आनेवाले दिनों की सुनहली किरनें।

अँगड़ाई आतंक की

धरती की अन्दरूनी परतें जब अँगड़ाई लेती हैं, तब धरातल विचलित हो जाता है। धरातल को आदत होती है स्थिर रहने की, अडिग रहने की, अविचलित रहने की, निष्कंप और दोलन–रहित रहने की। यह आदत जब कभी अचानक छूट जाए तो परत की इस अँगड़ाई से जाने कितने आँगन उजड़ जाते हैं ! अँगड़ाई आतंक हो जाती है ! धरती की तहों की यह अन्दरूनी हिलोर, धरातल का हाहाकार हो जाती है ! लातूर के कंपन इसी हाहाकार के, क्रन्दन के ऐसे ऐतिहासिक पृष्ठ बने जिन पर बरसे आँसू कब सूख पाएँगे कोई नहीं जानता।

गढ़वाल में नगाधिराज के आँचल में भी कुछ बरस पहले यही हुआ था। भूकम्प की विभीषिका बेहद भयावह होती है; लेकिन उससे कहीं ज़्यादा भयावह होती है वह कारुणिक वास्तविकता जिससे रूबरू होना ठीक वैसा ही होता है जैसे किसी अनिंद्य सुन्दरी की लपटों में झुलसी देह का प्रतिबिंब आइने में उसे होश आते ही दिखा दिया जाए।

धरातल की ये हलचलें अब बढ़ चली हैं। मेरे शहर से लगे हुए गाँवों में रोज़ भूकम्प के झटके महसूस किए जा रहे हैं। शहर से लगे इन गाँवों के बाशिंदे असहाय–से इन झटकों को बरदाश्त कर रहे हैं। उन्हें मालूम ही नहीं कि कब क्या हो। उन्हें नहीं मालूम कि उन्हें कब क्या–क्या खोना पड़े। चिरनिद्रा की आशंका में वे रात–दिन जागते हैं। हमेशा की नींद का भय, रोज़ की नींद उड़ा देता है। वे घड़ी देखते रहते हैं और रोज़ उन झटकों का हिसाब बनाकर आगे भेज दिया जाता है। झटके देनेवाले झटके देते हैं और झटके खानेवाले उनका हिसाब खुद रखते हैं, उसे ऊपर भेजते हैं। इस लाचारी और बेबसी के लिए अब कोई और शब्द तलाशा जाना चाहिए क्योंकि मजबूरी, विवशता, बेबसी और लाचारी जैसे शब्द इस भयावह बेबसी और बेकारी के आगे बहुत बौने हैं।

प्रकृति का सौन्दर्य और उसकी विभीषिका दोनों के चरम को देख लेना हमारी नियति है। सवाल है धरातल के स्वभाव का, आदत का। यह धरातल क्यों मान बैठा कि उसे अविचल रहने का वरदान मिला ? उसने अपना स्वभाव क्यों बना लिया कि उसे स्थिर ही रहना है ? क्यों उसने कभी यह नहीं सोचा कि नियति सदा एक–सी नहीं होती ? यह सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि उसके इस स्वभाव का खमियाज़ा उन्हें भुगतना है जिन्हें धरातल के स्वभाव की जानकारी नहीं।

धरातल को अपने स्थिर रहने का जब–जब ग़रूर ज़्यादा हो जाता है तब–तब उत्तरकाशी और उस्मानाबाद उजड़ जाते हैं। ग़रूर कभी जाति नहीं देखता, धर्म नहीं देखता, मानवता नहीं देखता। वह सिर्फ़ देखता है अपनी आत्ममुग्धता। अपने दंभ में अपने इतराने का

आत्मसुख आत्मघाती बन जाता है। इस बार भी यही हुआ कि इतराया धरातल, वर्तमान से इतिहास को गए जाने कितने गाँव, जाने कितने मानव–प्राण और जाने कितनी हलचलें।

अब ज़रूरत है हमें अपने धरातलों के स्वभाव को पहचानने की और उस स्वभाव के मुताबिक अपने–आपको ढालने की। धरातल को गरिमा हम देते हैं, धरातल को गौरव–बोध हम देते हैं, उसके आकार को सँवारते भी हमीं हैं, लेकिन वहीं जब यह सब–कुछ पा जाता है तो अपने दंभ में इतराकर हमीं को उजाड़ देता है। यह मान लेना पड़ेगा कि धरातल अपना स्वभाव नहीं बदलेगा। धरातल, फिर वह चाहे किसी स्तर का धरातल हो, एक बार महिमामंडित हो जाने पर ग़रूर पाल लेने की आदत बना लेता है। लातूर और उसके आसपास के गाँव यदि वीरान होते तो धरातल की इस अँगड़ाई का कोई अर्थ नहीं होता। लेकिन वहाँ अनर्थ इसीलिए हुआ क्योंकि वहाँ के धरातल पर आदमी बसते थे, वे आदमी जिन्होंने उस धरातल को गरिमा दी थी, उसे महिमामंडित किया था, सँवारा था उसे।

विवशता हमेशा हमारी ही रहती आई है क्योंकि हम एक बार किसी को सँवार देने के बाद, उसे सज्जित करने के बाद, कुछ और करने की स्थिति में नहीं रहते। हमारी नियति तब सिर्फ़ पश्चात्ताप–भर कर लेने की रह जाती है। इसलिए अब यह ज़रूरी हो गया है कि हम धरातलों के स्वभाव पहचानें और उस स्वभाव के अनुरूप अपने विचार और आचरण बदलें।

धरातल के स्वभाव को पकड़ पाना बहुत मुश्किल है। इसलिए मुश्किल है क्योंकि उसे पकड़ने के पैमानों की ईजाद नहीं हो पाई। उसके स्वभाव को वे कैसे पहचानें जिन्होंने अपने स्वभाव की जड़ता नहीं तोड़ी, अपनी भंगिमा नहीं बदली ? हम अभी तक यही समझते रहे कि हमारा स्वभाव ही बदलावपूर्ण है, धरातल का नहीं; लेकिन जब से उसने अपने तेवर बदले, हम समझ नहीं पा रहे हैं कि यह हुआ क्या ?

इस ऊहापोह में, उलझन में कब तक रहेंगे? इस यंत्रणा से मुक्त होना पड़ेगा। यंत्रणाएँ वैसे ही बहुत हैं, उनकी विपुलता की क्या कमी जो एक और यंत्रणा उसमें जोड़ी जाए ? यह अब आवश्यक है कि उस धरातल की परख की जाए जो अभी तक अपने स्थिर रहने का हमें शाश्वत आश्वासन देता आया है। अब यह लाज़मी हो गया है कि उस धरती की अन्दरूनी आहटों को सुना जाए जिसके बारे में हम अभी तक आश्वस्त थे कि उसके गर्भ में सिर्फ सन्नाटा है। यह धरती अब आश्वस्त नहीं करती, यह आतंकित करती है।

अब हमें अपने–आपमें यह सुधार लाना होगा कि हम धरातल की हलचलों पर नज़र रखें, उसकी आहटों को पहचानें, उन आहटों को पहचानकर अपने घर बनाएँ, अपना आचरण ऐसा बनाएँ कि ये आहटें हमें आतंकित न कर सकें। स्वभाव अब हमें बदलना होगा, जड़ता तोड़नी होगी, कुछ ऐसा गढ़ना होगा जो इस आतंक से मुक्ति का विकल्प हो।

कहते हैं कि यह धरा शेषनाग के फन पर टिकी है, जब शेष डोलते हैं तो धरती डोलती है। शेष क्यों डोलेंगे बिना किसी कारण के ? वे या तो इसलिए डोलते होंगे क्योंकि हमारा भार उनके लिए असहनीय हो चला या इसलिए कि वे भूल गए कि उनके भरोसे पूरी मानवता की अस्मिता टिकी है। आज के युग को देखें तो लगता है कि आबादी भले बढ़ रही हो लेकिन मानव तो स्वयं अशेष हो रहा है। वह तो स्वयं ही ढो रहा है अपने–आपको। उसकी संख्या भले ज़्यादा हो, लेकिन भारहीन होता जा रहा है वह। ऐसे मानव जन्म रहे हैं जिनकी देह में हड्डियों का भी भार नहीं। हड्डी–रहित, देहों के समूह दीख पड़ते हैं चारों तरफ; कोई मानव–जैसा नहीं दिखता, मनुष्यता के घने बरगद नहीं दिखाई पड़ते; पतले तनों वाले नीलगिरियों की परछाइयाँ ही दीख पड़ती हैं तो फिर सच क्या है ?

सच शायद यही है कि शेष स्वयं भूले हैं। वे भूले हैं अपने दायित्व को, वे भूले हैं उस संवेदना को, करुणा को, अपने आश्रय–भाव को और यह सब भूलकर वे सिर्फ़ अपना फन दोलित कर रहे हैं। इसलिए अब यह ज़रूरी हो गया है कि उनके निरन्तर दोलन को स्थिर रखने के लिए मानवता को इतना भारी बनाया जाए कि शेष यह अनुभव कर सकें कि उन्हें यह भार उठाना ही है, वे दायित्व से बच नहीं सकते।

मनुष्यता 'भारी बने–इसके लिए ज़रूरी है ऐसी देहों का जन्म जो मज़बूत हों, जिनकी अस्थियों में बल हो, जो संख्या में भले कम हों लेकिन वज़नदार हों आचरण और काम में।

भूकम्प आज सिर्फ़ धरती के अंदर नहीं, उसके ऊपर ज़्यादा है। धरती की ऊपरी परतों की अनचाही हलचलों ने ज़्यादा उकसाया है धरती की निचली परतों को। धरती की ऊपरी सतह पर जो आदमी–आदमी के बीच धर्म, जाति, संप्रदाय और पाखंड को लेकर द्वंद्व मचा है वह एक बड़ा भूकम्प है। इस द्वंद्व से धरती की ऊपरी सतहें आन्दोलित होती हैं, और जब इन आन्दोलनों की ध्वनि धरती की निचली परतों तक पहुँचती है तो धरती की अन्दरूनी परतें भी अँगड़ाई लेने लगती हैं।

धरती का अन्दर से हिलना यह संकेत देता है कि हमें स्थिर होना पड़ेगा, अपनी अवांछित हलचलों को नियंत्रित करना पड़ेगा। प्राकृतिक विपत्तियाँ आती रही हैं, लेकिन मनुष्यता जीवित रही; इसलिए जीवित रही क्योंकि मनुष्यता के पास अपनी सशक्त जिजीविषा थी, उत्कृष्ट अभिलाषा थी अपने–आपको बरकरार रखने की, अपने को और बेहतर बनाने की। इसलिए जाने कितने विनाशकारी भूकम्प आए, लेकिन मानवता की अस्मिता नहीं डिगी, उसका पौरुष नहीं डिगा। आज ज़्यादा आतंकित होने की वजह यह है कि हम अपने अस्तित्व के बारे में अपना आत्मविश्वास खो बैठे हैं। हमारा अस्तित्व सिर्फ अपनी साँसों के भार को ढोने से जुड़कर रह गया है। साँसें तो सूर की भी थीं, रसखान की भी और नानक की भी। भूकम्प तब भी आए लेकिन उनके ताण्डव से ये साँसें विचलित नहीं हुईं। भूकम्प का विनाश यदि देह में

चलती साँसों की निरंतरता तोड़ भी दे तो वे समूचे परिवेश की साँसों के रूप में जीवंत हो उठती हैं जिसने मनुष्यता और उसके मूल्यों की रक्षा की, इसलिए इन दैहिक साँसों से भूकम्प के आतंक को जोड़ लेना एक कायरता है। कोशिश तो यही होनी चाहिए कि धरातल का स्वभाव बदले, हमारा आचरण बदले और हमारी साँसों का समर्पण अपने खुद के लिए न होकर समूची मनुष्यता के परिवेश के लिए हो।

पौरुष और जिजीविषा के विकल्प को चुनना भूकम्प की सबसे बड़ी पराजय है।

मोम–नदी के तट से

यह मोम भी क्या बनाया है आदमी ने कि पिघलता है आँच से और फिर आँच से दूर होते ही जम जाता है। इतना मुलायम है, चिकना है कि उसकी फिसलन पर कुछ टिकता नहीं। इसके मुलायमपन की मिसालें दी जाती हैं। लेकिन मोम की क्या यह ख़ासियत, ख़ासियत है ? नहीं, मोम तो भरम का पर्याय है। मोम पारदर्शी नहीं है। वह छुपाता है अपना सब कुछ। उसके आर–पार कुछ नहीं दीखता। वह ठोस रह नहीं पाता, ज़रा–सी आँच के सामने पिघल जाता है और आँच के दूर होते ही फिर जम जाता है। बर्फ़ और मोम की तासीर एक–जैसी है– ज़रा–सी आँच के सामने दोनों पिघल जाते हैं।

मोम की ईजाद उन इन्सानों ने की होगी जो सिर्फ अपने लिए रौशनी चाहते होंगे। जिन इन्सानों ने दूसरे के लिए रौशनी चाही वे तो खुद जले। उन्होंने मोम की ईजाद में समय नहीं गँवाया। मोम का आविष्कार तदर्थ रोशनी के लिए कर लिया गया है; और भले ही उसकी उपयोगिता सिद्ध हुई हो लेकिन यह उपयोगिता बड़ी क्षणिक रहती आई है। मोम को बनानेवालों को यह कल्पना ही नहीं रही होगी कि इन ख़ासियतों को आगे की सदियों का आदमी अपने चरित्र और आचरण में ढाल लेगा।

आज हालात यह कि लोहा पिघल रहा है और जमाई हुई मोम के पुतले समाज के सूत्रधार हैं, हमारी नियति के कर्णधार हैं। लोहे को मोम बनाया जा रहा है, और मोम को लोहे का रूप देने की कोशिशें हो रही हैं। सब–कुछ मोमबत्ती की मानिन्द जलते–जलते पिघल रहा है, जम रहा है, फिर थोड़ी आँच मिलते ही पिघल रहा है। आदमी, आदमी जैसा समझ नहीं आता, ज़रा–सी आँच उसके स्वरूप को बदल जाती है, दृष्टि को बदल जाती है।

आँच, आँच होती है जिसका दायित्व ही है पिघला देना, फिर वह चाहे लोहा हो या मोम; आँच के समाने दोनों पिघलते हैं लेकिन लोहा आँच के पौरुष की परीक्षा लेता है, आँच को अपना समूचा अस्तित्व दाँव पर लगा देना होता है तब लोहा पिघलता है। लेकिन मोम ! वह तो आँच को देखते ही पिघल जाता है। और फिर पत्थर ? उसे भले ही महत्व न दें लेकिन वह किसी आँच में नहीं पिघलता। आँच के पौरुष को पत्थर की जिजीविषा से पराजित होना पड़ता है। तो फिर आदमी कैसा हो। मोम जैसा, इस्पात जैसा या पत्थर जैसा ? कुछ भी हो, लेकिन आदमी को मोम तो नहीं होना चाहिए। मोम के पुतलों से पत्थर की मूरतें भली ! पत्थरों के तराशे शिल्प को पूजने की परम्परा शायद उसकी इसी दृढ़ता को देखकर फली – फूली होगी, क्योंकि पत्थर किसी आँच के सामने पिघलते नहीं; तड़क सकते हैं, पिघल नहीं सकते। हमारे पूर्वजों ने पत्थर की मूरतें इसीलिए पूजीं, वर्ना हमारे यहाँ मोम की मूर्तियों पर अक्षत चढ़ते, उनकी वंदना होती।

इन्सान जब तक मोम का पुतला रहेगा, वह सब कुछ पिघल–पिघलकर लुप्त होता जाएगा जो इन्सान को इन्सान बनाता है। आज तो नगर के नगर मोम के हैं जहाँ मोम के पुतले चलते हैं और मूल्य मोमबत्ती की तरह पिघल–पिघलकर लुप्त हो जाते हैं। नगर तो पाषाण के ही होने चाहिए, सड़कों पर पाषाणी मनुष्य ही चलने चाहिए। प्रतिमाएँ मोम की नहीं ढलें, उन्हें तो पत्थरों से ही तराशा जाना चाहिए। ढल जाना एक पराजित क्रिया का नाम है और तराशा जाना परिमार्जित का पर्याय। तराशने के पीछे खोज है, दृष्टि है, श्रम है, जबकि ढलने के पीछे सिर्फ एक यांत्रिक सोचहीन, कल्पनाहीन प्रक्रिया।

कहा जा सकता है कि मनुष्य पाषाणी क्यों हो ? पत्थर में सिर्फ कठोरता होती है, दृ ढ़ता होती है लेकिन कोई संवेदना नहीं होती तो फिर मनुष्य पाषाणी क्यों बने? सच है, लेकिन ऐसे प्राणवान मनुष्य किस काम के जो यूँ तो संवेदनशील कहलाएँ लेकिन पल–पल पर मोम की तरह अपना स्वरूप बदलें, ज़रा–सी आँच के सामने पिघल जाएँ और सिर्फ इसीलिए महत्वपूर्ण बने रहें क्योंकि उनमें प्राण बसते हैं ? इतिहास ऐसे जाने कितने प्राणवानों के शव ढोता रहा है, और इतिहास की पुस्तकें ऐसे प्राणवानों की शवयात्राओं की दस्तावेज़ बन गई हैं। प्राणवानों के शवों को ढोने से बेहतर है कि दृढ़ निष्प्राणों से प्रेरणा ली जाए। मनुष्य प्राणवान बना रहकर भी पत्थर–सा दृढ़ संकल्पवाला हो सकता है, उसमें तराशे जाने की संभावनाएँ हो सकती हैं। पाषाणी मनुष्य का मतलब निष्प्राण मानव नहीं है। पाषाणी का अर्थ एक दृढ़ संकल्प वाला ऐसा मनुष्य है जिसे अपने अस्तित्व को किसी आँच के सामने पिघलने नहीं देना है। इन अर्थों में सीता का चरित्र एक ऐसा पाषाणी चरित्र है जिसने प्रमाणित किया है कि आँच के भीतर से गुजरकर भी मनुष्यता के उन मूल्यों का अस्तित्व बनाए रखा जा सकता है जिनके कारण संवेदना के मायने संवेदना है, प्राण के मायने प्राण हैं, और जगत् के दूसरे जीवों से भिन्न एक मनुष्य भी है जो अपना सब–कुछ दूसरों के लिए तज दे, अपना सब कुछ त्याग दे, जिस धरती से पैदा हो उसी में समा जाए, लेकिन मनुष्यता को जीवित रखे। राम भले मर्यादा पुरुषोत्तम रहे हों, लेकिन सच्ची और आदर्श मानवी सीता थीं। राम तो झूठे लांछनों की आँच में पिघल गए, लेकिन सीता ने हर आँच का सामना ही नहीं किया बल्कि उसे अंगीकार कर आँच के अस्तित्व को भस्म कर मनुष्यता के अस्तित्व को बचा लिया।

सीता जैसे और जाने कितने चरित्र हैं इतिहास में जो किसी भी आँच के सामने पिघले नहीं, लेकिन ये चरित्र पूजा और आराधना के प्रतीक बना गिए गए, इसलिए कि हम इनके जैसी जिजीविषा अपने आप में नहीं सँजो सकते थे। इनके जैसी पाषाणी दृढ़ता और आँच के बीच से गुजर जाने का साहस नहीं जगा सकते थे।

प्राणवान होने का अर्थ मनुष्य होना नहीं है। प्राणवान होने का अर्थ पाषाण होना भी है। मनुष्य होने का अर्थ पत्थर भी ही और पत्थर होने का अर्थ मनुष्य भी है। निष्प्राण दृढ़ता में

यदि प्राण रोप दिए जाएँ और प्राणवान मनुष्यता से आँच देखते ही पिघल जाने का अवसरवादी तत्त्व छीन लिया जाए तो इससे बड़ी उपलब्धि मनुष्यता के लिए कोई दूसरी नहीं।

लेकिन आज का परिदृश्य ही दूसरा है। हमारे आदर्श मोम हैं, आचरण मोम हैं, अस्तित्व मोम हैं। एक नदी बह रही है मोम की जिसके जल से हम अपनी ज़रूरतों के मुताबिक आदर्श गढ़ लेते हैं और इच्छित सिद्धि हो जाने पर इन आदर्शों को पिघलाकर उसी नदी में विसर्जित कर देते हैं। इसी नदी के जल में नगर गढ़ लेते हैं, पुतले गढ़ लेते हैं, प्रतिमा और पुल गढ़ लेते हैं। एक मोम–संस्कृति जन्मी है पिघलाव की, क्षणिक जमाच और पिघलाव की संस्कृति। एक छलावे का सांस्कृतिक ऐश्वर्य जन्मा है जो पल भर को जगमगा जाता है, फिर जाने कहाँ जगमगाहट विलुप्त हो जाती है। ऐश्वर्य पिघलकर किस नदी में विलीन हो जाता है, ज्ञात नहीं। चारों ओर चलते–फिरते, जगमगाते मोम के रंग–बिरंगे पुतले हैं। जिस पुलते में जितनी जल्दी पिघलने की क्षमता है वह उतना ही पुरुषार्थी है, सामर्थ्यवान है। कुछ पाषाणी पुतले थे उन्हें भी या तो मालाओं में लपेटकर विस्मृत कर दिया गया या धमन–भट्टियों में झोंक दिया गया। आज तो सारा साम्राज्य ही मोम का।

क्या यह मोम–संस्कृति कुछ करने को मजबूर नहीं करती ? क्या कहीं यह अहसास नहीं कराती कि भगीरथ की गंगा का स्थान मोम की नदी ने ले लिया ? लुप्त हो गए राम, कृष्ण, बुद्ध, कबीर, तुलसी और मीरा। जाने कहाँ धँस गए नानक, मुहम्मद और जीसस। तथ्य यह है कि यह मोम–संस्कृति इन सबकी औपचारिक याद–भर दिला देती है, फिर इस स्मृति को पिघलाकर मोम–नदी के जल को सौंप देती है। अवसर आने पर इस नदी का जल इन सब प्रतिमानों की प्रतिमाएँ गढ़ देता है और फिर अवसर जाते ही उनके पिंघलाव में देर नहीं लगती। यह संस्कृति कोई अहसास नहीं कराती, कुछ करने को मजबूर नहीं करती।

संस्कार और संस्कृति के पिघलाव का ऐसा दौर पहले शायद ही आया हो किसी ज़माने में, क्योंकि यदि अपने आपका ही विश्लेषण करें तो पाएँगे कि हम खुद कितने बड़े पुतले हैं मोम के। हम किसी की विकलांगता को देखकर, विपन्नता को देखकर, उसकी दारुण पीड़ा को देखकर नहीं पिघलते, लेकिन खुद पर जब रंच–मात्र भी संकट आए तो तुरन्त पिघलते हैं। समझौतापरस्ती ने हमारा सब–कुछ छीन लिया है, वह सब–कुछ जो हमें सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाता। इसी वृत्ति के कारण हम परस्त–दर–परस्त होते चले गए– फ़िरकापरस्त, जातिपरस्त, भाषापरस्त, संप्रदायपरस्त और न जाने कितनी तरह के परस्त। इस परस्ती ने हमारी मनुष्यता के पौरुष को परास्त कर दिया। आज हम सिर्फ़ ऐसा नपुंसक मल्ल हैं जो अकेले खड़े हैं अखाड़े में। कोई हम जैसा ही आ जाए तो दिखादे की कुश्ती हो जाती है, लेकिन यदि कोई आँचदार तीली भी प्रविष्ट हो जाए तो धराशायी होने में देर नहीं लगती।

ऐसा होगा कब तक? क्या यह सिलसिला अंतहीन होना चाहिए ? हरेक यही उत्तर देगा– नहीं। तो फिर इस मोम–संस्कृति से मुक्ति कैसे पाएँ ? कैसे इस तदर्थवाद को त्यागें ? कैसे इस मोम–नदी के प्रवाह को सदैव के लिए विराम दें जिसका जल हमारे स्वार्थों के मुताबिक आदर्श गढ़ लेता है, मूर्ति गढ़ देता है ?

इन प्रश्नों के उत्तर हमीं में छुपे हैं क्योंकि मोमनदी के स्रोत हम ही हैं। मोम से प्राणवान पत्थर कैसे बन पाएँ– आज इसी रचना–प्रक्रिया की शुरुआत करना ज़रूरी है। यदि यह प्रक्रिया शुरू हो गई तो फिर देर नहीं लगेगी परिदृश्य के बदलने में। आँच को तो कभी बुझना नहीं, उसे तो सुलगते ही रहना है, उसे तो प्रतिबद्ध ही रहना है पिघलाने के लिए; लेकिन आदमी आँच के बीच से गुज़रकर अपने–आपको आदमी के रूप में बरकरार रख सके इसके लिए ज़रूरी है कि वह पाषाण बने, पाषाणी नगर बनाए, ऐसे पाषाणी संस्कार ढाले जिनकी दृढ़ता चुनौती दे सके आँच को। यदि ऐसा हो पाया तो फिर मोम की नदी नहीं बहेगी; नदी बहेगी ऐसे पवित्र जल की जिसकी तह में होंगे पत्थर।

फिर इस जल से कोई आदर्श नहीं गढ़े जा सकेंगे, कोई मूल्य नहीं ढाले जा सकेंगे किन्हीं ऐसे आचरणों की रचना नहीं की जा सकेगी जिनका उपयोग कर उन्हें तत्काल उसी नदी में विसर्जित किया जा सके; बल्कि, यह जल ऐसा होगा जिसके आचमन से पाषाणी देहवाले मनुष्य में कर्म के प्राणों की प्रतिष्ठा होगी और जिस जल के अर्घ्य उस इच्छा शक्ति को अर्पित होंगे जिसका भले कोई आकार न हो लेकिन जिसे नित्य–नए सृजन में साकार होते रहना है– बिना विराम के, बिना विश्राम के।

सोने दो कृष्ण, मुझे सोने दो

तुम मुझे सोने क्यों नहीं देते कृष्ण ? मैंने तुमसे न तो दिन माँगे थे न रात, मैंने तो जन्म भी नहीं माँगा था तुमसे, लेकिन मुझे जीवन की विवशता में बाँध दिया। मैं कब तक इस उजाले को ओढ़ूँ और कब तक अँधेरे में डूबता रहूँ, उतराता रहूँ? तुम–जैसा तो हूँ नहीं कि अजन्मा रहकर भी जन्मा हुआ बना रहूँ, निर्द्वन्द्व होकर भी द्वन्द्व करता रहूँ, योगी होकर भी भोग करता रहूँ, सृजन भी करूँ और भंजन भी, रागी भी रहूँ विरागी भी, निष्काम भी रहूँ कामी भी। एक तो जन्म दे दिया और वह भी साधारण–सा जन्म और फिर उलझा दिया संसार के इस द्वंद्व में, इन विरोधाभासों और विसंगतियों के बीच। जन्म देना ही था तो मुझे अपनी स्मृति नहीं देते। अब ये स्मृतियों के दंश मुझे चुभते हैं और रात भर सोने नहीं देते।

वे कोई और हैं कान्हा, जिन्हें तुम्हारी याद आती है और जो अपना सब कुछ भूलकर तुम्हारी छवि की कल्पना में विभोर होते रहते हैं। जाने–कौन–से लोक के लोग वे हैं जिन्हें तुम्हारी वंशी की तानें अब भी सुनाई देती हैं और जो मंत्रमुग्ध–से उन तिरोहित हो चुके स्वरों को सुनकर गोकुल पहुँच जाते हैं ! मैं ताज्जुब करता हूँ कि रास और राधा के स्मरण में कोई कैसे इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे किसी चीज़ की भी सुध–बुध नहीं रहती ? संसार के अंतहीन द्वंद्व के बीच जहाँ खुद अस्मिता का ही संकट हो, ऐसा होना मुझे सिर्फ ढोंग और दिखावा मालूम होता है। लोग इतने निस्संग कैसे हो सकते हैं और कैसे इतने विभोर और तल्लीन ? मैं यही सोच–सोचकर रात–भर सो नहीं पाता।

माधव, तुम यों तो इतिहास–पुरुष हो, लेकिन अकेले भावपुरुष भी हो। एक इतिहास–पुरुष से किंवदंतीमय भावपुरुषों में ढल जाना भी तुम्हारी लीला है।

आखिर क्यों रची यह लीला ? बने रहते सिर्फ इतिहास–पुरुष, तो भी प्रामाणिक रहते; मगर तुम भावपुरुष बने ताकि तुम प्रामाणिक भी बने रहो और प्रासंगिक भी। तुम्हारी इस लीला ने बहुत छला। फिर वे चाहे अंधे सूर रहे हों या प्रेम दीवानी मीरा, कुंभन हों या रसखान, विद्यापति हों या केशव। तुमने चितेरों और शिल्पियों को भी ऐसा छला कि हमारी कला के इतिहास का ज़्यादातर हिस्सा तुम्हारे नाम पर है। और तो और, उस राधा ने तुम्हारे साथ मिलकर इतिहास के कई अध्याय छीन लिये जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं था, जो सिर्फ़ तुम्हारी भाषा और छलना थी। तुम्हारी इस अद्‌भुत लीला में आपाद–मस्तक डूबे हुए लोग ज़रा भी यत्न नहीं करते यह जानने का कि यह लीला आखिर रची क्यों गई ? मैं तुम्हारी इस लीला में लीलामय नहीं होता। सिर्फ़ इसी प्रश्न का उत्तर खोजता रहता हूँ और नींद जाने कहाँ उड़ जाती है !

मैं द्वारिका गया। वहाँ देखा हाहाकार करती समुद्र की लहरों को। मथुरा–वृन्दावन के पास से भी गुज़रा हूँ, मगर वहाँ के कोलाहल में भी मुझे सन्नाटा महसूस हुआ। बम्बई में जुहू बीच पर बना तुम्हारा भव्य मंदिर और आँखें फाड़–फाड़कर उन भक्तों को भी देखा जो मुँडे–सिर एक खास ताल और लय में 'हरे रामा हरे कृष्णा' गा रहे थे। मन विरक्त–सा हो गया। तुम्हारे होने का आभास जाने क्यों इन तीर्थों पर नहीं हो पाया। वहाँ पर तो तुम्हारे न होने का अहसास होता है गिरधर ! तुम्हारे होने की अनुभूति कैसे हो ? मुझे यही चिन्ता सालती रहती है और करवटें बदलते रात कब बीत जाती है, जान नहीं पड़ता।

तुम्हारे कहने से क्या होता है गोपाल ! तुमने कर्म करते हुए कर्म करने का उपदेश दिया, लेकिन तुम्हारे अनुगामी कर्म छोड़कर तुम्हें जपने बैठ गए। वे तुम्हारे नाम को जप लेना ही कर्म समझते हैं; और मैं जो तुम्हें वाकई तलाशना चाहता हूँ इन बहुसंख्यक भक्तों के बीच, नास्तिक और सिरफिरा कहा जाकर तिरस्कृत कर दिया जाता हूँ। क्या यह भी तुम्हारी कोई लीला है कि जो तुम्हें पूरी तन्मयता के साथ खोजना चाहे वह नास्तिक कहलाए और तुम्हारे सच्चे भक्त वे कहलाएँ जो जन्माष्टमी की रात बारह बजे पंजीरी का प्रसाद बाँटकर तुम्हारी आरती गाते, तुम्हारी मूरत को झूला झुलाते यह सिद्ध कर देते हैं कि उन्हें तुम्हारे दर्शन हो गए? हाँ, या तो शायद यह तुम्हारी लीला है या फिर मैं ही इस भ्रम में जी रहा हूँ कि तुम लीला से परे भी कुछ और हो, लीला से परे भी तुम्हारी व्याख्या है।

'कृषि भूर्वाचको शब्दो वस्तु निर्वतिवाचकः' तुम्हारे कृष्ण नामक संबोधन में जो है उसका अर्थ है खींचना, जोतना, धरती में बीज–वहन की क्षमता उत्पन्न करना, धरती की उत्पादक–शक्ति का आह्वान करना, और मैं तुम्हारे इसी रूप पर न्यौछावर हूँ क्योंकि यह तुम्हारे चोखे कर्मरूप को उजागर करता है। मुझे तो यही लगता है कि इस भ्रम में ही मैं जीता रहूँ, तुम्हारी लीलाओं से कोई सरोकार नहीं रह पाएँ मेरे, और भले ज़माना मुझे नास्तिक कहता रहे, ज़माने की परवाह न करते हुए मैं सो लूँ। लेकिन जब तुम याद आते हो तो आँखों की पलकें मुँदने का नाम नहीं लेतीं और रात के सारे प्रहर बीत जाते हैं।

नाम भी तो सहस्रों हैं तुम्हारे, मुरारी! जितने नाम हैं उनसे जुड़ी उतनी ही लीलाएँ हैं। इन नामों का स्मरण करते–करते जाने कितने जीवन व्यर्थ हो जाते हैं। यदि ये तुम्हारे नामों की बजाय तुम्हारे निष्काम कर्मयोग को अपना लें तो धरती सार्थक हो जाए, मगर आकर्षण तो नामों में है, अकर्मण्यता बहुत खींचती है मन को। मैं जानता हूँ ये सारे नाम तुमने नहीं रख लिये खुद, ये तो अकर्मण्यों ने रख दिये, क्योंकि इतिहास–पुरुष हो या भावपुरुष, ये दोनों संज्ञाएँ सिर्फ एव नाम से भी जानी जा सकती हैं, समझी जा सकती हैं, फिर क्या यह तुम्हारी विवशता है कि तुम इतने नामों से जुड़े रहो ? तुम यह बंधन तोड़ तो सकते हो, मगर तोड़ना चाहते नहीं; तोड़ना इसलिए नहीं चाहोगे क्योंकि इससे आस्था के असंख्य कलश टूटेंगे।

टूट जाने दो इन कलशों को क्योंकि इनमें सिवाय रिक्तता के और कुछ भी नहीं है। ये ऐसी अधपकी मिट्टी के रंग–रोगन किए कलश हैं कि एक छोटे–से हवा के झोंके से यूँ ही तड़क जाएँगे, इसलिए इन पर इतना भरोसा करना ठीक नहीं। इन कलशों के मोह में फँसने के बजाय एक पक्की मिट्टी की ईंट, ज़मीन में रख दो, मैं विश्वास दिलाता हूँ कि इस ईंट की छाती पर धीरे–धीरे एक भव्य शिल्प अँगड़ाई लेने लगेगा। वह ईंट जाने कब रखी जाएगी–यही तनाव तो मुझे घेरे रहता है ! और जब तनाव से घिरी हो चेतना तो सोया कैसे जा सकता है, मोहन ?

तुम्हारी एक बात समझ में नहीं आती कि तुम इतने निर्मम क्यों हो ? यदि तुम्हारे लीलामय चरित्र को ही लूँ तो देखता हूँ कि तुमने देवकी, यशोदा, नंद, राधा और सहस्रों गोपियों–ग्वालों से लेकर गायों तक को एक चुंबकीय वशीकरण में बाँधा और फिर अचानक ही एक–एक कर सबसे नाते तोड़ लिये। गोकुल, ब्रज, मथुरा और द्वारिका कोई भी तो तुम्हें नहीं समेट सका। तुम उनसे ऐसे जुड़े कि उन्हें लगा जैसे तुम सिर्फ़ उन्हीं के हो, मगर इन सबसे ऐसे टूटे भी कि उन्हें भरोसा तक नहीं हो सका। मथुरा जाने को तत्पर जब तुम रथ पर बैठ गए तो यशोदा रोने लगी; विह्वल हो कह उठी, 'महरि पुत्र कहि शोर लगायो, तरु ज्यों धरनी लुटाई' और गोपियाँ, वे तो बस चित्रवत् खड़ी हैं और आँखों से आँसुओं की जलधारा प्रवाहित हो रही है–

रही जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ी।
हरि के चलत देखियत ऐसी मनहुँ चित्रलिखि काढ़ी।।
सूखे बदन स्त्रवत नैनन ते जलधारा उर बाढ़ी।
बंधनि धरे चितवनि द्रुम मनहुँ बेलि दवडाढ़ी।।

उनके पाँव ही आगे नहीं बढ़ते, नयन आगे न देखकर पीछे ही देखते हैं, जब मन ही उस माधुर्यमयी मूर्ति के साथ चला गया तब नेत्र और पैर कैसे रह सकते हैं ?

पाछे ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पाँई,
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौं ब्रज जाई !

और राधा ?

अति मलीन वृषभानु कुमारी
हरि तुम जल भी उर, अंचल, तिहिं लालचन ध्रुववति सारी।

ऐसा भी क्या मोह, और निर्मोह भी ऐसा क्या कि निर्ममता अपने तटबंधों को तोड़कर बहने लगे ? तुम्हारी यही निर्ममता बहुत आहत करती है नंद–नंदन, और अब तुम्हीं बताओ कि

निर्ममता के ऐसे शूल जब बेध रहे हों मेरी संवेदना को, तब मैं सो कैसे पाऊँ? मैं क्या बताऊँ तुम्हें कि मैंने आकाश के सारे तारे गिन लिये ?

मैं जितना तुम्हारे बारे में विचार करता हूँ उतना ही विचलित होता हूँ। जाने क्यों मैं तुम्हारी कल्पना में विभोर नहीं हो पाता ! जाने क्यों मैं तुम्हारे रास के रस में डूब नहीं पाता ! रह–रहकर यही पश्चात्ताप करता हूँ कि जन्म तो ले लिया, मगर तुम्हारी स्मृति भी क्यों ले ली ? तुम्हें जितना भूलना चाहता हूँ उतना ही तीव्रता से तुम याद आने लगते हो। आज तुम्हारी असंख्यवीं जन्म–गाँठ है और सुबह से ही तुम्हें भूल जाने का संकल्प लिये बैठा हूँ, मगर रात गहरा गई, बारह बजने को हैं, लोग तुम्हारी आरती की तैयारी करने लगे, मगर मैं मूढ़–सा यही सब सोचते–सोचते संकल्प मन में लिये तुम्हें बड़ी तीव्रता से याद कर रहा हूँ, मनोहर !

हाँ, जब तक तुम्हारा दिया यह जीवन है तब तक मैं चाहूँ भले कितना, मगर तुम्हें भूल नहीं सकता। लेकिन यही जीवन जीते–जीते तो ये सवाल भी उठे हैं जिनकी वजह से मैं बेचैन हूँ। इस जीवन के साथ ही तो तुम्हारी स्मृति भी आई है और जो हर साँस के पोर–पोर में बसी है। इसलिए मैं अब यह मानता हूँ कि जब तक मेरे जीवन का अस्तित्व है, तुम भी उसके एक अंग हो। तुम मेरे कोई ऐसे आराध्य नहीं जिनके सामने मैं अपने जीवन को अर्पित करने की सौगंध खाऊँ। तुम तो मेरी अपनी अस्मिता के ऐसे अंश हो जो अविच्छिन्न है उससे। तुम मेरे आराध्य नहीं, अभिन्न हो, हरि !

तो फिर इन प्रश्नों के उत्तर दो और यदि अभी इनके हल नहीं मिल पा रहे हों तो अभी समय है इनके हल खोजने का। इन्हें खोजकर मुझे सौंप दो। यह सौंपना मुझे क्यों, खुद तुम्हारे लिए भी होगा क्योंकि तुम तो अंश हो मेरे। यह खोज जल्दी करो गोपेश, जल्दी करो !

मैं बहुत जाग लिया। मुझे सोने दो कृष्ण, सोने दो मुझे !

पलाश वन को लाँघते

मार्च–अप्रैल में जब कभी निमाड़ के सुदूर अंचलों में दौरे पर जाता हूँ तो तपती के बीच भी गाड़ी के काँच उतार लिया करता हूँ। ड्राइवर से कहता हूँ गाड़ी हौले–हौले चला। गाड़ी दौड़ती रहती है ऊबड़–खाबड़ सड़क पर और निहारती रहती है पलाश–वन। कतार की कतार टेसू (पलाश) के फूलों से लदे हुए वृक्षों की दीखती है, और वृक्षों के नीचे अंगारे बिछे दीख पड़ते हैं।

एक ठंडी केशरिया आँच के बीच का सफर बहुत सुगंधमय होता है। मन भर जाता है एक मादक गंध से, ऐसी गंध से जो होती ही नहीं। वास्तव में टेसू गंधहीन होता है। लेकिन मन यदि लबरेज़ हो संवेदना से, तो सबसे ज़्यादा खुशबू उन्हीं फूलों की महसूस होती है जो गंधहीन होते हैं, फिर वह चाहे टेसू हो, गुलमोहर हो या अमलतास।

यह मादक गंध इस टेसू के पौरुषमय सौन्दर्य की गंध होती है जो मन के पुरुषार्थ को जगाती है। यह गंध नासिका के रन्ध्रों की गंध नहीं, बल्कि पूरे शरीर के रोम–रोम में समा जाने वाली गंध होती है। मेरी पूरी देह टेसू के वृक्षों की कतार के बीच गुज़रते झंकृत–सी होती है; वह खुद पलाशमय हो जाना चाहती है, टेसू की कतार में खड़ी हो जाना चाहती है, लेकिन तभी गाड़ी आगे बढ़ जाती है, पलाशवन पीछे छूट जाता है।

अब आँखों के सामने कहीं बबूल है, कहीं झाड़ियाँ, कहीं नीलगिरि और कहीं न जाने कौन–कौन–से अपरिचित वृक्ष, जो भले हरे हों लेकिन मोहते नहीं। पलाश–वन को कब लाँघ लिया, यह ज्ञात ही नहीं हो पाता। आँखों के सामने अब बबूल हैं और पीछे टेसू, लगता है जैसे कोई गर्मी में नर्मदा के ठंडे जल में डूबा रहके, निकले किनारे पर और तुरंत उसके पाँव तपती रेत पर पड़ें। मुझे बबूल से कोई नफ़रत नहीं। बड़ा हरा–भरा वृक्ष होता है जिसकी पत्तियाँ और कोमल काँटे पशु बड़े चाव से खाते हैं, लेकिन इसके अलावा बबूल के अस्तित्व की अहमियत नहीं। उसके कठोर काँटे बहुत चुभते रहे हैं और इन काँटों से हर यात्री के पाँव लहूलुहान होते रहे हैं। जाने कितनी सदियाँ बबूल की वजह से रक्तिम पदचिह्नों की साक्षी बनीं। इसलिए बबूल कभी किसी रचनात्मक बोध का पर्याय नहीं बन पाया और टेसू बहुत बाँधता रहा हर मन को।

ये पलाश के मोहक और अल्पजीवी वन बड़ी जल्दी लाँघ लिये जाते हैं। इनकी शोभा का अस्तित्व बड़ा अस्थायी होता है। इनकी याद सिर्फ बसन्त में आती है। ऐसा क्यों नहीं होता कि पलाश की यह केशरिया शोभा मन में बारहों मास विराजी रहे, उसका पौरुषभरा सौन्दर्य हमें हर पल उद्वेलित करता रहे ? जब–जब दौरे पर जाता हूँ, इन वनों को थोड़े–थोड़े

अन्तराल के बाद निहार आता हूँ और गंतव्य तक पहुँचने पर फिर इन बबूलों में उलझ जाता हूँ जो मेरी बाट शहर में भी जोहते रहते हैं।

जब निमाड़ और उससे सटे हुए अंचलों में टेसू अपने पूरे यौवन में खिला होता है, तभी इन अंचलों में भगोरिया की हाटें भरनी शुरू होती हैं। शांइदा (ताड़ी) पिए आदिवासी के हाथ में पावली (बाँसुरी) होती है, सिर पर रंगीन पगड़ी या झकाझक टोपी। वह अपने मन में पूरे वसंत को समेटे प्रणय रचाने निकल पड़ता है और उसकी इस मोहक छवि को निहारती बालाएँ डोलती रहती हैं। अपना पूरा शृंगार कर आँखों से निहारती रहती हैं, अपने मन में रम जाने वाले प्रणय–पुरुष को। प्रणय के इस भोले व्यापार के साक्षी होते हैं बर्फ के रंगीन लड्डू, गुड़ की जलेबी और गुलाल। मादल की थाप पर ताड़ी की मदहोशी में पैर थिरकते हैं, और यह थिरकन तभी थमती है जब दोनों एक–दूसरे के गाल पर गुलाल मल देते हैं, एक–दूसरे को पान खिला देते हैं और फिर दोनों एकात्म होने इस सारे उत्सव को छोड़कर एकान्त में, टेसू के वनों में ओझल हो जाते हैं।

इस प्रणय–उत्सव की परम्परा के कई किस्से हैं। कहते हैं यह उमा–महेश्वर की प्रणय–परम्परा का प्रतीक है या अलीराजपुर तहसील के भगोर ग्राम से इसकी शुरुआत हुई, लेकिन इतिहास की ये किंवदंतियाँ इस प्रणय–उत्सव की स्वाभाविक जीवंतता के आगे फीकी हैं। निसर्ग के आँगन में इस भोले प्रणय की भंगिमाओं की छटा हर वसंत को वसंत बनाती है। आदिवासी का निश्छल प्रणय, उत्सव को प्राणहीन औपचारिकता से मुक्त करता है। उसका प्रणय बड़े सहज भाव से आलिंगनमय होता है। भुजपाश में बाँधने के लिए वह वरमालाएँ नहीं सहेजता, तोरण द्वार नहीं सजाता; गुलाल को मुट्ठियों में भरता है और पान के बीड़े उसके आजीवन बंधन के साक्षी पुरोहित बन जाते हैं। इस मौसम में इन मस्त आदिवासियों की टोलियाँ बेपरवाह घूमती दीख पड़ती हैं। मेरी गाड़ी इन टोलियों के बीच से निकल जाती है, और बड़ी हसरत से निश्छल भाव को निहारते मैं बबूलों की ओर बढ़ा चला जाता हूँ।

अपने आसपास के अंचल के आँचल में इतना सब–कुछ बिखरा है, लेकिन क्यों मैं उसकी निश्छलता और पौरुष–भरे सौन्दर्य से एकात्म नहीं हो पाता ? क्यों पलाश के वन बड़ी जल्दी पीछे छूट जाते हैं और बबूल पीछा नहीं छोड़ते ? क्यों सिर्फ़ शब्द इस बोध को लिख–भर देते हैं और बाद में इन शब्दों के प्राण भी खो जाते हैं और बोध की जीवंतता भी ? कभी–कभी यह भी सोचता हूँ कि क्या सिर्फ़ जीवन–भर प्रश्नों की ही लड़ाई लड़ना है और क्या कभी संतोष के समाधान मिल पाएँगे ?

लगता है यह चिंतन ही ऐसे प्रश्नों को जन्म देता है। मैं अपने अंचल की निश्छलता और है अपने आसपास फैले निष्पाप निसर्ग के सौन्दर्य से एकात्म हो सकता हूँ। मैं सँजो सकता हूँ टेसू के पौरुष–भरे सौन्दर्य को अपने–आप में। मैं शब्द भी प्राणवान बनाए रख

सकता हूँ और बोध भी। मैं ज़रूर संतोष और तृप्ति के समाधान पा सकता हूँ। लेकिन इस सबके लिए मुझे अपना आभिजात्य त्यागना होगा, अपना दोमुँहापन छोड़ना होगा, तोड़ना होगा उन अहं के पर्वतों को जो मेरे और इस पलाश–वन के बीच खड़े हो गए हैं। इस तोड़ने से ही जुड़ाव जन्मेगा। यही तोड़ना शब्दों को अर्थवत्ता देगा, यही त्याग एकात्म स्थापित करा पाएगा।

जब तक कर्म और विचार के धरातल पर पारदर्शिता नहीं पैदा होगी, तब तक ये प्रश्न जन्मते ही रहेंगे। इस प्रश्नावली का अंत नहीं होगा।

हम इतने विचारों, दर्शनों और उपकरणों में उलझे हुए हैं कि यह उलझाव एक बाधा बन गया है। हम साधना चाहते हैं दोनों छोरों को, लेकिन संतुलन कायम नहीं रहता। सध जाने और साध लेने में बड़ा फ़र्क है। सध जाना सहज है, लेकिन साध लेना बड़ा कृत्रिम और कठिन है। साध लेने के चक्कर में कई सवाल पैदा होते हैं और सवालों के इस भँवर में आदमी खो जाता है। जबकि सध जाना, सायास कभी नहीं होता, सध जाना बड़ा स्वाभाविक हुआ करता है। सध जाने में कोई कृत्रिमता नहीं होती। जो साधने की कोशिश करते हैं उनसे सधता नहीं; सध उनसे जाता है जिन्हें साधना नहीं आता। सधा तुलसी से, कबीर से, मीरा से, निराला से, और नहीं सधा तो उन असंख्य साधकों से जो सायास इतिहास में सुरंग लगाकर पैठने की कोशिश करते रहे।

गाड़ी दौड़ती जाती है सड़क पर। सड़क कहीं सीधी है, कहीं बल खाई। वर्तमान की यह सड़क हमारे अतीत का अक्स है। इतिहास कभी सपाट है तो कभी इतना घुमावदार कि उसमें कहाँ खो जाएँ; मालूम नहीं। यह सड़क भी अतीत से आज तक साधनेवालों की याद दिलाती है। इस सड़क से कई साधक गुज़रे, लेकिन उनके पाँवों के निशान तक इसने सहेजकर नहीं रखे। इसने सिर्फ़ अपना अस्तित्व ही सहेजकर रखा और वह अस्तित्व भी सदैव एक–जैसा नहीं रहा। कभी उसे किसी ने सीधा किया, किसी ने टेढ़ा। क्या मायने हैं ऐसे अस्तित्व के जो अपने स्वाभिमान की कीमत पर क़ायम रखा जाए ? सोचता हूँ यह सड़क भी उन साधकों की तरह निकली जो सिर्फ़ साधने में लगे रहे। इन साधकों की तरह इस सड़क का भी मूल रूप जाने कब विलीन हो गया। ऐसी सड़क से वह पगडंडी प्रणम्य है जो रुनकता में बनी सूर की जीर्ण–शीर्ण कुटी से गंगा के गऊ घाट तक जाती है। वह पक्की और चमकदार नहीं है। पत्थर हैं, कंकर हैं, धूल ही धूल है उस पगडंडी पर; लेकिन उस पर चलो तो सूर के रस में मन की समूची अस्मिता भीग जाती है। यह सहज सध गई पगडंडी है जिसने अपने अस्तित्व को कभी सँवारे जाने की कोई कोशिश नहीं की। ऐसी सहज–सधी पगडंडियों पर चलो तो बेहद याद आते हैं बुद्ध और महावीर, जिन्होंने राजमार्गों को त्यागा और इन पगडंडियों की धूल को रस से सराबोर कर दिया। पगडंडी सहज सध जाने का नाम है और सड़क है साधने की कोशिश।

मैं गाड़ी में बैठकर पलाशवन को सड़क पर दौड़ते हुए लाँघ जाता हूँ, लेकिन वे भगोरिया में शामिल होने वाले भील जाने कहाँ की पगडंडियों से आते हैं और प्रणय–भाव में डूबे उत्सव के चलते एक–दूसरे के गालों पर गुलाल मलकर पलाश–वन में खो जाते हैं, उससे एकात्म हो जाते हैं।

इतिहास में न उस सड़क को रहना है, न उस गाड़ी को, न मुझे, लेकिन जब तक सृष्टि है तब तक ये पगडंडियाँ भी रहेंगी, ये निश्छल युगल भी, टेसू के केशरिया वन भी।

मैं तो सिर्फ उसी साहस की प्रार्थना करता हूँ जिसके बूते पर मैं गाड़ी से उतरकर टेसू के वृक्षों की कतार में गंध से सराबोर हो खड़ा रह जाऊँ।

वृक्ष अभिमन्यु

रास्ते में एक हरियाला वृक्ष देखा – हरे–हरे बड़े–बड़े पत्ते, कसी हुई टहनियाँ जिन पर झूलती फुनगियों पर फूटने को आतुर हल्की ललाई लिये कोंपलें, पुष्ट तना और गीली जड़ें। यह वृक्ष ज़मीन पर पड़ा था। जड़ें ज़मीन छोड़ चुकी थीं, प्राण कोंपलों में, टहनियों में थे– लेकिन समूचे वृक्ष में नहीं। आसपास कई वृक्ष खड़े थे और यह वृक्ष हरी दूर्वा पर निश्चेष्ट पड़ा था। पावस में हरे–भरे चहचहाते जंगल के बीच इस जवान वृक्ष की निश्चेष्ट पड़ी देह मन को गहरे भिगो गई। इस वृक्ष के आसपास खड़े वृक्षों की नीयत मैं तत्काल नहीं जान पाया, मैं नहीं समझ पाया, कि ये क्या वे कौरव हैं जिन्होंने इस भोले अभिमन्यु को घेरकर उसके प्राण ले लिये या वे पांडव जो अपने पुत्र की मृत्यु पर शोक प्रकट कर रहे हैं ? वृक्ष बोलते नहीं, लेकिन उनकी भंगिमाएँ उनकी भाषा होती हैं। ग़ौर से देखा तो पाया कि अपराधी–भाव से अपनी पत्तियों को नीचे झुकाए ये वृक्ष वास्तव में कौरव हैं। इन्होंने इसे घेरा होगा। जिनको ये झुकाए खड़े हैं, इन्हीं पत्तों के सामूहिक झंझावात ने हवा को बहकाया होगा और और फिर उस हवा ने इस वृक्ष की जड़ें उखाड़ दी होंगी। यह वृक्ष आश्वस्त रहा होगा कि यह झेल लेगा झंझावात और निकल आएगा आँधियों के चक्रव्यूह से, लेकिन वह निकल नहीं पाया। जब यह वृक्ष जन्मा होगा तो यही वृक्ष बड़े आह्लादित हुए होंगे उसके जन्म पर, उसे पोसा होगा। इन्हीं बुजुर्ग वृक्षों के नेह की धूप में उसकी पत्तियाँ फूटी होंगी, तने ने सुपुष्ट आकार लिया होगा; लेकिन जब यह जवान हुआ होगा तो बदले परिवेश में यही बुजुर्ग वृक्ष उसके शत्रु बन गए होंगे। इस जवान वृक्ष ने अपनी तरुणाई पर भरोसा किया होगा और उनके षड्यंत्र के चक्रव्यूह में घुस गया होगा। लेकिन उस तरुणाई के आवेश में वह यह भूल गया कि बुजुर्गों की गोपन व्यूह–रचनाएँ तरुणाई को प्रवेश तो आसानी से दे देती हैं लेकिन प्रभुत्व अपना ही बरक़रार रखती हैं, और जो उनकी इस व्यूह–रचना का ध्वंस करने की हिम्मत करता है उसे ये बख़्शती नहीं, उसकी तरुणाई के संकल्पों पर हमेशा के लिए विराम लगा देती हैं। यह जवान वृक्ष भी इसी व्यूह में फँसकर मारा गया।

आज जब यह हरियाला जवान, हरी दूर्वा पर पड़ा सद्यमृत वृक्ष देखा तो लगा कि महाभारत कहाँ ख़त्म हुई ? महाभारत कोई इतिहास–ग्रन्थ नहीं, न ही कहानी है। बल्कि, वह तो हर संदर्भ और प्रसंग में बार–बार दुहराए जाने वाले घटनाक्रमों की एक संहिता है, भारतीय दंड संहिता की तरह कि जिसमें अपराध परिभाषित हैं जो होते रहते हैं और उन्हें इन परिभाषाओं के साँचों में बिठाकर आरोप गढ़ दिए जाते हैं। आसपास देखो तो जाने कितने विवश भीष्म, अंधे धृतराष्ट्र, कुटिल शकुनि, पापी दुःशासन और स्वार्थी दुर्योधन मिल जाएँगे, जिनके पीछे उनकी जयजयकार करनेवालों की भीड़ होगी, लेकिन यह भीड़ भीष्म की विवशता को जानते हुए भी उसे व्यक्त नहीं करेगी और दुर्योधन के स्वार्थों का हर मंच से तालियाँ बजाकर औचित्य सिद्ध कर देगी। नहीं, मन नहीं कहता कि महाभारत ख़त्म हो गई। ख़त्म हो

गई होती तो यह हरियाला जवान वृक्ष भर–पावस में ज़मीन पर गिराया हुआ, घेरकर मारा गया नहीं दीखता। कहते हैं बहुत दूर थे पांडव वहाँ से जहाँ अभिमन्यु जूझ रहा था। मुझे भी जंगल में दूर–दूर तक पांडव नहीं दीखे, कोई ऐसे वृक्ष नहीं दीखे जो रुदन कर रहे हों। वे होंगे कहीं दूर वन में जूझते। आज भी पांडवों की यह स्थिति है। बेचारे अलग–थलग कर दिए गए हैं। कोई उन्हें पहचानता नहीं। वे अकेले जूझ रहे हैं। जब उनकी कहानी ख़त्म हो जाएगी तब उनके माहात्म्य रच दिए जाएँगे, लेकिन अभी उनकी कोई मान्यता नहीं। महाभारत में पांडव नहीं जीते, असली जीत तो कौरवों की हुई जो भले दैहिक रूप से मार दिए गए हों लेकिन जिनका कौरवपन जीवित रहा। दुर्योधन का स्वार्थ, शकुनि की कुटिलता, दुःशासन का अश्लील दुस्साहस और भीष्म की विवशता तो आज भी ज़िंदा है। और पांडव. वे भले जीवित रहे लेकिन जीतकर भी हार गए। युधिष्ठिर का सत्य, अर्जुन का पराक्रम और भीम का पौरुष यह सब–कुछ हिमालय की बर्फ में विगलित हो गया। पांडव अतीत हो गए, अभिमन्यु के रूप में जो भविष्य वे दे सकते थे वह सदैव के लिए छिन गया।

महाभारत वास्तव में एक आशापूर्ण भविष्य के छीन लिये जाने की कहानी है जिसके माहात्म्य पर हम गर्व कर लिया करते हैं।

यह निष्प्राण पड़ हरियाला पेड़ यही कह रहा है। उसे घेरे जो शोक का छद्म प्रदर्शन करते वृक्ष खड़े हैं वे वास्तव में कौरवों की कुटिल वृत्तियों के प्रतिनिधि हैं।

ऐसे पेड़ बहुधा दिख जाया करते हैं। पहले कम दीख पड़ते थे, अब ज़्यादा दीख पड़ते हैं। ज़्यादा शायद इसलिए कि जंगल अब अभिमन्यु सहन नहीं करते। उनकी तो कोशिश होती है कि कोई अभिमन्यु जन्मे ही नहीं। लेकिन अभिमन्यु की पहचान बचपन में नहीं होती। वह तो जब तरुण होता है तब विद्रोही हो जाता है। अभिमन्यु की पहचान बचपन में होने लगती तो ये बुजुर्ग वृक्ष कंस की तरह उसे जन्मते ही मारने का षड्यंत्र रचने लगते; लेकिन उसकी पहचान तरुणाई में होती है। उसके तरुण होने तक तो भरोसा रहता है कि वह विद्रोही नहीं होगा, मगर जब वह हो जाता है तो गोपन चक्रव्यूह में उसे फाँस लेने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इसी प्रक्रिया का चलते रहना यह अहसास ज़िंदा रखता है कि महाभारत ख़त्म नहीं हुई। अभी–अभी मारे गए वृक्ष–अभिमन्युओं के आसपास जो शोक की मुद्रा का छद्म धारण किए वृक्ष खड़े रहते हैं वे वास्तव में कभी मरते नहीं। वे बुढ़ाकर ठूंठ हो जाएँ, गिर जाएँ या काट डाले जाएँ, उनकी नस्ल नहीं मिटती। कौरवों के जंगल उगते चले जाते हैं, अभिमन्युओं की जड़ें उखड़ती जाती हैं, पांडव अकेले जूझा करते हैं और बाद में विजयी होने के बाद भी हिमशिखरों की ओर जाने वाले रास्तों के बीच विगलित हो जाया करते हैं।

यह जय नहीं, पराजय है और यह पराजय नहीं, जय है। जयी आज भी कौरव ही हैं और पराजित हैं पांडव।

चला आ रहा है सदियों से समय के पथ पर इतिहास का कारवाँ पांडवों का जयगान करते, लेकिन इस काफिले में कहीं पांडव नहीं हैं, उनके वंशज भी नहीं हैं, वे तो मारे जा चुके। इस काफिले में पांडवों का जयघोष कर उपलब्धियों को बटोर लेनेवाले कौरवों के वंशज हैं। यह काफिला कभी थकेगा नहीं, क्योंकि इसमें वे अश्वत्थामा भी शामिल हैं जिन्हें अमरता का वरदान प्राप्त है। वे कहाँ खत्म होंगे ! क्या विडम्बना होती है इतिहास की कि वह अतीत के रचे गए छद्मों को, वर्तमान को भी सौंप देता है और भविष्य को भी और इस तरह वर्तमान और भविष्य दोनों जय में छुपी पराजय को और पराजय में छुपी जय को अपना लेने के लिए बाध्य कर दिए जाते हैं ! कोई सच को उजागर नहीं करता, साहस नहीं सँजो पाता इस छद्म को तोड़ने का और युग के युग रौंद दिए जाते हैं। जो साहस करता है उसे या तो ज़हर का प्याला थमा दिया जाता है, कीलें दे दी जाती हैं स्वयं अपनी देह में ठोंकने के लिए, या वह रस्सी जिससे वह खुद अपना गला घोंट सके, अपनी वाणी को चिर–विराम दे सके।

यह होगा कब तक ? क्या इन वृक्ष–अभिमन्युओं की नियति कभी बदलेगी ? क्या कभी इन कौरवों के जंगलों के उगने पर विराम लगेगा ? क्या कभी ऐसा हो पाएगा कि पांडवों का जयघोष करनेवाले काफिले का नेतृत्व कौरवों के वंशज न करें ? क्या कभी अश्वत्थामा की मृत्यु–तिथि तय होगी ? क्या कभी ऐसा भी होगा कि भीष्म की विवशता जानी जाएगी, शकुनि और दुर्योधन का छद्म पहचाना जाएगा ? क्या ऐसा हो पाएगा कि हम कह सकें कि अब महाभारत अंतिम रूप से ख़त्म हो गई ? ऐसे जाने कितने अगणित प्रश्न हैं। जंगलों में जाता हूँ तो हर वृक्ष ही एक प्रश्न–सा दिखाई देता है। जंगल प्रश्नों के हो गए और हमने भी सारे प्रश्न जंगलों को सौंप दिए। ये प्रश्न जंगलों में कौरव बन जाते हैं। कुछ अच्छे सवाल जो अभिमन्यु बनने की कोशिश करते हैं, वे मार दिए जाते हैं, उनकी जड़ें उखाड़ दी जाती हैं। प्रश्न वहीं खड़े रहते हैं जिनके खड़े रहने से ही जंगल का मौन बना रहे। जो सवाल इस मौन को भंग करने की कोशिश करता है उसका हश्र अभिमन्यु की तरह होता है। मौन प्रश्न ही तो शोभा है आज के जंगलों की !

ये प्रश्न यदि अपने उत्तर तलाशना शुरू कर दें तो ज़रूर बदलाव आ सकता है। यह तलाश एक तराश में तब्दील हो सकती है। यह तराश गढ़ सकती है एक महाभारत – विहीन मनुष्यतावाला समाज। यह तराश जन्म दे सकती है एक नई जीवन–पद्धति को जिसके संघर्ष का ध्येय अपने ही पुत्र अभिमन्यु को मार डालने का न हो, बल्कि उसकी तरुणाई को सहेजकर रखने का उसे और सुपुष्ट बनाने का हो, जो पराजित कर सके कुटिलता को, स्वार्थ को, छद्म को। मगर ये प्रश्न कुछ नहीं करते, बस प्रश्न बने खड़े रहते हैं। आज ज़रूरत तो उत्तरों की है, जवाबों की है। उत्तर खोजना ज़रूरी है। समय आ गया जब कुछ करें – ऐसा जो अभिमन्युओं की नियति बदल सके, कौरवों के जंगलों के उगने पर विराम लगा सके, रोक सके कौरवों के वंशजों को उस जुलूस का नेतृत्व करने से जिसमें पांडवों का जयघोष हो रहा

है, जान सकें भीष्म की विवशता, दुर्योधन का स्वार्थ, शकुनि की कुटिलता और तय कर सकें अश्वत्थामाओं की मृत्यु–तिथि।

महाभारत की निरन्तरता भारत के भविष्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, समूची मनुष्यता के लिए स्थायी अभिशाप है जिसे ख़त्म किया जाना आज की पहली आवश्यकता है। महाभारत का नैरन्तर्य सब–कुछ बाँट देगा, छिन्न–भिन्न कर देगा, ध्वंस कर देगा उन सारे स्मारकों को जो निरन्तर बहाव के ख़िलाफ तैरकर अनगिनत मनुष्यों में से उँगलियों पर गिने जाने वाले सच्चे मनुष्यों ने अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर बनाए और आज जिनके कारण मानवता नाम की संज्ञा जानी जाती है। ये स्मारक उन मानवीय मूल्यों के जो अनमोल हैं। हमने कई स्मारक तोड़ दिए, उनके भग्नावशेषों को भी मिटा दिया। जो मिट नहीं पाए उन्हें संग्रहालयों में रख दिया या उन्हें पूजने के नाम पर कुछ इस तरह मालाओं में जकड़ दिया कि वे जड़ हो गए। हमने तो कुछ नया गढ़ने के नाम पर एक ईंट तक नहीं बनाई। हाँ, तोड़ा बहुत–कुछ है और तोड़ते जा रहे हैं; जोड़ना सीखा लेकिन मुद्राओं का, मूल्यों का नहीं। मूल्यों को जोड़ने की निरंतरता बनी रहती तो महाभारत की निरंतरता टूट सकती थी, नए स्मारक बन सकते थे। हो सकता था कि बहाव के ख़िलाफ तैरनेवालों की इतनी तादाद बढती कि बहाव को अपनी दिशा बदल देनी पड़ती, लेकिन जोड़ने का संकल्प जन्मा और सतमाहे जन्मे अधूरे शिशु की तरह कुछ साँसें लेकर मृत हो गया। एक जिजीविषा जन्मी अन्याय का सामना करने की, लेकिन उसके हाथ तरुण होते ही उसे चक्रव्यूह में फाँसकर निष्प्राण कर दिया गया।

यह अधूरापन कैसे मिट पाए, महाभारत के नैरन्तर्य दृ इतिहास की पुनरावृत्ति पर विराम कैसे लगे–आज का सबसे बड़ा प्रासंगिक प्रश्न यही है, और यदि इस प्रश्न को भी जंगलों के बीच ढकेल दिया गया तो फिर यह प्रश्न भी एक और दुर्योधन की तरह खड़ा हो जाएगा। महाभारत जारी रहेगी, कृष्ण विदा कर दिए जाएँगे संसार से किसी बहेलिए के द्वारा, पांडव विगलित हो जाएँगे बर्फ़ में और कौरव भले दैहिक रूप से ख़त्म मान लिए जाएँ लेकिन वे ज़िन्दा रहेंगे। इसलिए आज बेहद ज़रूरी है कि महाभारत के नैरन्तर्य पर स्थायी विराम लगे।

विराम लग सकता है बशर्ते कि एक सहिष्णु सोच की परिधि का विस्तार हो, बंधुत्व की बेल पल्लवित हो, तदर्थवादी नपुंसकता से छुटकारा पाया जाए, जयघोष करने में लगनेवाली कंठों की ऊर्जा उन करों में लगे जो मूल्यों के पक्के निर्माण अपने संकल्पों की करनी से खड़े करें, विवाद थमें, संवादों के पुल बनें, राजपथ मुड़ें और तब्दील हों जनपथों में, कर्मण्यता जागे, पाँवों के रहते बैसाखियों का बाँधा जाना बंद हो, ओढ़ी हुई कृत्रिम विकलांगता से मुक्त हों, पाखंडों में जमी आस्था भंग हो। इस जड़ आस्था की बंजर धरती पर विश्वास के हल चलें जो उसे उर्वर बना दें और फिर यह उर्वर ज़मीन अँकुराए अपने धरातल पर वे पांडवी वृक्ष, जिनके समूहों के बीच कोई वृक्ष– अभिमन्यु भविष्य में न मारा जा सके।

तृप्ति से तृष्णा का जागरण

पीले पत्ते, पथरीले पहाड़, पगहीन पगडंडियाँ, परागहीन पुष्प और पसीने के परिधान पहने पनिहारिनों की पाँत मैं कोई अनुप्रास नहीं बाँध रहा, इस तीखी तपन के प्रतीकों की बात कर रहा हूँ। गर्मी में यही तो सब–कुछ दिखाई देता है। बेहद गर्मी है, तपन है, लू के थपेड़े और जानलेवा जीवन–ऊर्जा को सोख लेने वाली मर्मान्तक वेदना है जिसे ये सारे प्रतीक व्यक्त करते हैं। पनिहारिन के परिधान पसीने के हैं, भले ही गागर में पानी भरा हो। इस विडम्बना को क्या अभिव्यक्ति दें? लेकिन यह शिकायत अकेले मौसम के संदर्भ में क्यों है ?

यह शिकायत समाज, देश और आज के संदर्भों में क्या नहीं होनी चाहिए? होनी चाहिए क्योंकि आज हममें से हरेक की यही विडम्बना है कि वह सिर पर भरे पानी की गागर ढो रहा है, लेकिन इस गागर के पानी पर उसका हक़ नहीं। उसकी नियति तो यही है कि वह पसीने के परिधान ओढ़े रहे और गागर का सुरक्षित जल गंतव्य तक पहुँचा आए। हम सब गागर ढो रहे हैं जो लबरेज़ है शीतल जल से, लेकिन हमारे कंठ प्यासे हैं, हम तरबतर हैं पसीने से, झुलस रहे हैं लू के थपेड़ों से और इस तरह शीतलता को ढोते हुए तपन झेल रहे हैं।

पानी से भरी हुई गागर है, मगर यह हमारी होते हुए भी हमारी नहीं। इस गागर को ढोने के लिए हम अभिशप्त हैं। यदि गागर का पानी छलक जाए तो वह दोष भी हमारा ही है। इस गागर के पानी की एक बूँद पर भी हमारा अधिकार नहीं। ऐसा क्यों ? इसलिए कि हम मान बैठे कि हमारी नियति सिर्फ दूसरों के लिए शीतल जल ढोने की है। हमारे से इन गागरों को दुलवाया जाता है, ताकि गंतव्य तृप्त हो सकें। गंतव्यों की तृप्ति के लिए हमारी तृषा माध्यम है। हम इन गंतव्यों के गुलाम हो गए। यही गुलामी हमारी सबसे बड़ी गलती है। ये गंतव्य चाहे जिस क्षेत्र में हों, कभी नहीं चाहेंगे कि उन्हें कभी गगरी को उठाने की भी ज़ेहमत उठानी पड़े। वे तो चाहेंगे कि उनके लिए हम गगरी ढोते रहें और सदैव ढोते रहें। हमारे इस भ्रम की एवज में वे हमें सपनों का संसार देते हैं, ऐसा संसार जिसके सपने देखते–देखते उम्र बीत जानी है लेकिन इन सपनों को कभी साकार नहीं होना। हम बड़ी आशा से अपनी इस तृष्णा को सहेजे रहते हैं और गंतव्यों की तृप्ति को ढोते रहते हैं। समाज हो, राजनीति हो, संप्रदाय हो, इनके मठाधीश ही वे गंतव्य हैं जिनके लिए हम इन गगरियों को ढो रहे हैं। हमारे–जैसा कोई स्वतंत्र गुलाम नहीं और इन मठाधीशों– जैसा कोई लोकतांत्रिक राजा नहीं। इन्हें राजा कहलाना पसंद नहीं, मठाधीश कहलाना पसंद नहीं, लेकिन जो कहलाना पसंद नहीं, वही बनना पसंद है। वास्तविकता तो यही है। कहेंगे कि यह सब तो आस्था का प्रतिफल है। आस्था है, श्रद्धा है तो ढो रहे हैं, गागर को इसमें क्या आपत्ति ? बड़ा सच्चा और खरा सवाल है। किसी की आस्था के निर्मल भाव के प्रति ऐसा दुराव क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर भी इसी में निहित है। आस्था तो हमेशा निर्मल होती है, इसलिए जब ऐसी निर्मल आस्था के साथ

छल किया जाए, उसका शोषण हो तो इससे बड़ा कोई पाप नहीं होगा। आज के गंतव्य यही कर रहे हैं। वे भटका रहे हैं। निर्मल आस्था, छल के द्वारा शोषित हो रही है और केवल अपनी तृप्ति के लिए निर्मल आस्थावानों की तृष्णा को जीवित रखा जा रहा है। यह तथ्य इसलिए भी खतरनाक है कि पहले श्रम का शोषण होता था वह तो हो ही रहा है, मगर अब शोषण आदमी के भाव का होने लगा। उस आस्थावान का शोषण होने लगा जिस आस्थाभाव ने कभी अतीत में अजन्ता रची, साँची के तोरण द्वार शिल्पित किए और कोणार्क को तराशा।

आज के परिदृश्य में आस्था के निर्मल भाव के साथ ऐसा छल–शोषण करने के कारण सारी रचनाशीलता विलुप्त हो गई। व्यक्ति आत्मकेन्द्रित हो गया, समाज–विमुख हो गया और आस्था के नाम पर वह रचने के बजाय, कुछ सर्जित करने के बजाय गगरियों को ढोने लगा। आज के सारे हरे और भगुए जुलूस, नारे, उनसे उपजने वाले त्रासद कर्फ्यू और मानवमात्र की यंत्रणाएँ केवल निर्मल आस्था के स्वार्थी शोषण को ही उजागर करते हैं।

सबसे पहले मनुष्य होना आता है, उसके बाद आता है धर्म जो अपने उदार अर्थों में मनुष्य होने की पहचान देता है। लेकिन जब धर्म को जाति, संप्रदाय और वर्ग के अर्थों में सीमित कर दिया जाता है तो फिर मनुष्यता गौण हो जाती है, धर्म संकीर्ण मान लिया जाता है, निर्मल आस्था भी छद्‌म करार दे दी जाती है और वह शोषित होने लगती है।

गगरी में जो शीतल जल हमने भरा वह जल हमारी तृष्णा को शांत कर दे, हमारी ही प्यास बुझा दे, हमें ही प्रेरित कर दे कि अब प्यास बुझी, काम में लगो तो अजन्ता फिर रची जा सकती है, कोणार्क फिर तराशा जा सकता है, साँची के तोरण द्वारों पर फिर शाल भंजिकाएँ उकेरी जा सकती हैं। लेकिन यदि यह नहीं हो पाया तो फिर इतिहास के पन्नों पर रचना की किसी इबारत को नहीं लिखा जाना है, क्योंकि जुलूस, नारे और वक्तव्य इतिहास की धरोहर नहीं होते। इतिहास की धरोहरें तो अजन्ता, साँची, केदार और कोणार्क को ही रहना है। इसलिए बेहद ज़रूरी है अपने आस्थाभाव के निर्मल बने रहने की उसकी निर्मलता की रक्षा करने की चिन्ता के बने रहने की। यदि यह चिन्ता नहीं रही तो इस भाव का शोषण होता चला जाएगा और हमारी पीढ़ी सिर्फ नारों और जुलूसों की ऐसी नपुंसक साक्षी भर बनी रहेगी जिसे सिर्फ़ कोसा जाएगा। अजन्ता, कोणार्क, रामेश्वरम्, पावागढ़, दरगाहे–अजमेर शरीफ, स्वर्ण मंदिर और गोवा के अद्‌भुत चर्च याद दिलाते हैं कि चाहे कोई भी धर्म हो उनकी आत्मा सिर्फ़ निर्मल आस्था और कर्मण्यता है जो सिर्फ़ रचना जानती है, ध्वंस और विद्वेष से जिसके कोई सरोकार नहीं। अब ज़रूरी हो गया है इस गागर–यात्रा को स्थायी विराम देना। यह ज़रूरी हो गया है कि हम स्वयं अपने लिए कलशों में शीतल जल भरें। यह ज़रूरी हो गया है कि गंतव्यों को जता दिया जाए कि अब उन तक गागर नहीं पहुँचाई जाएगी। या तो वे स्वयं अपने लिए जल भरें या प्यासे रह जाएँ।

हमें तृषित बने नहीं रहना, तृप्त होना है। यह तृप्ति उस जल के आचमन से मिलेगी जो हम स्वयं तपती धूप के बीच नदी के शीलत प्रवाह के बीच जाकर अपनी गागर में भरते हैं। इस तृप्ति के बाद की तृष्णा का स्वरूप भिन्न होगा। वह तृष्णा कुछ रचने की होगी, कुछ गढ़ने की होगी, कुछ निर्माण करने की होगी ! वह श्रम जो मठाधीशों के लिए गगरी ढोने में व्यय हो रहा है, वह श्रम तब सार्थक निर्माण में लगेगा। माध्यम कभी राह नहीं देते; भटकाव देते हैं। सच्ची राह की खोज तो मनुष्य की अपनी होती है। इतिहास ने हमारे सामने ऐसे अनगिनत अनुकरणीय पथों के उदाहरण सजा रखे हैं कि इन पथों में से बड़ी आसानी से किसी पथ को चलने के लिए चुना जा सकता है और ये जितने अनुकरणीय पथ हैं वे इसीलिए अनुकरणीय हैं क्योंकि वे कर्मपुरुषों के द्वारा बनाए गए पथ हैं। इन पथों की आत्मा कर्मण्यता है, पौरुष है, जिजीविषा है। ये बेजान रास्ते नहीं हैं। इतिहास से बड़ा कोई गुरु नहीं। वर्तमान की सार्थकता इसी में है कि वह इस मौन गुरु की अन्तर्वाणी को सुनकर गुनने की कोशिश करे। अतीत की अनुकरणीयता को नकार देना बड़ा सरल है; यह और सरल है कि हम अपने आदर्श पथ तुरत–फुरत खुद बना लें, और सबसे सरल है बिना चलने का मन बनाए संतुष्ट और आत्ममुग्ध–भाव से जगह घेरकर बैठे रहें, कुछ करें नहीं और अंततः सदैव के लिए चल दें। ज़्यादातर यही कर रहे हैंया तो दूसरों के लिए खुद प्यासे रहकर गागर ढो रहे हैं या सिर्फ़ जगह घेरकर बैठे हैं।

बिना किसी माध्यम के अपने बलबूते पर अपना रास्ता तलाश कर उस पर चल पड़ना आज के मनुष्य की पहली ज़रूरत है। आलम्बन सहारा भर देंगे और माध्यम भटकाव, इसलिए बिना किसी आलम्बन और माध्यम के अपनी राह खुद खोजकर उस पर चल पड़ना ही एक रचनात्मक तृष्णा को परिभाषित करेगा।

बहुतेरे कलश रखे हैं, आगे आएँ, उन्हें उठाएँ, चल पड़ें, शीतल प्रवाह की ओर। उसके बीच जाकर इन कलशों में शीतल जल भरें, उसे सहेज लें और जब तपन बढ़े, कंठ सूखने लगें तो उस जल का आचमन कर अपनी तृषा शान्त करें और उंस तृष्णा को जगा लें जो अजन्ता रचे, कोणार्क तराशे, तोरण द्वारों पर कर्म का अभिनन्दन करती शाल–भंजिकाओं को उकेरे। शीलत जल से भरी गागर की यात्रा की सार्थकता इसी में है कि उस गागर के जल का आचमन हम स्वयं करें। तृप्ति भी मिले, साथ ही दुगुनी शक्ति से तृष्णा भी जाग जाए।

दौड़ नहीं है यात्रा

बड़ी अजीब बात है, रेलगाड़ी घंटों का सफर तय कर जब स्टेशन पर रुकती है तो फिर बमुश्किल किसी छोटे–से स्टेशन पर 2–3 मिनट रुकती है, फिर तुरंत सीटी बजाकर चल देती है। उसके रुकते ही भगदड़ मच जाती है, यात्री सामान–सहित जैसे–तैसे चढ़ पाते हैं। बहुत–से चढ़ ही नहीं पाते, सामान छूट जाता है, कभी–कभी पूरा परिवार साथ .हुआ तो कुछ बुजुर्ग छूट जाते हैं, बच्चे छूट जाते हैं प्लेटफॉर्म पर, और यह निर्मम गाड़ी आगे चल देती है। जिन पड़ावों के लिए सफर शुरू किया, कम–से–कम उन पड़ावों पर तो थोड़ी देर इत्मीनान से ठहरना चाहिए। घंटों का लम्बा सफर पहाड़ों, नदियों, जंगलों को पार कर एक पड़ाव तक पहुँचती है तो ठहरने के नाम पर 2–3 मिनट ठहरती है।

इस रेलगाड़ी की प्रकृति बिलकुल आज के मनुष्य की तरह है जो सफ़र शुरू करता है तो बड़ी तेज़ी से दौड़ता है। उसे सुकून देने के लिए कुदरत ने कुछ पड़ाव निर्धारित किए हैं; वहाँ भी नहीं रुकता या सिर्फ औपचारिकता पूरी करने के लिए रुकता है, इतना निर्मम है कि बच्चों और बुजुर्गों की विवशता को भी नज़रअंदाज़ करता है। बड़े पड़ावों पर देर तक रुकता है, इसलिए नहीं कि वहाँ ज़्यादा साथी हैं, बल्कि इसलिए कि कहीं पड़ाव बुरा न मान जाएँ। इन बड़े पड़ावों का अहं जब तुष्ट हो जाता है तो वह धीरे–धीरे आगे बढ़ता है और फिर सरपट दौड़ने लगता है।

रेलगाड़ी तो मानव–चालित है, वही उसके पड़ाव और वही उसकी गति तय करता है; लेकिन खुद मनुष्य ? उसे तो खुद अपनी गति तय करनी है, अपने पड़ाव निर्धारित करने हैं। अपना कोई साथी न छूटे, कोई असहाय, कोई बुजुर्ग, कोई बच्चा अपनी यात्रा से वंचित न रह पाए–यह ध्यान तो उसे रखना है। लेकिन ऐसा वह करता नहीं। उसे तो सिर्फ़ अपनी और अपनी यात्रा की निरंतरता की चिन्ता है, यही चिन्ता है कि वह जल्दी से जल्दी अपने गंतव्य तक निर्विघ्न पहुँच जाए, इसीलिए वह तवज्जो उन बड़े पड़ावों को देता है जो उसकी यात्रा को गति देने में सहायक सिद्ध होते हैं। ये बड़े पड़ाव उन जंक्शनों की तरह हैं जहाँ से ईंधन मिलता है, उत्प्रेरक के रूप में नए वाहक मिलते हैं। इन बड़े पड़ावों को साधना, उनके अहं को तुष्ट करना उसकी पहली ज़रूरत है, इसलिए यह सही नहीं है कि आज का मनुष्य खुद अपनी गति, अपने पड़ाव निर्धारित करता है। उसकी यात्रा एक यांत्रिक यात्रा–भर होकर रह गई–सफ़र शुरू करो, बड़े जंक्शन जो दिशा और गति निर्धारित कर दें उनसे नियंत्रित होते रहो, छोटे–छोटे पड़ावों की फिक्र मत पालो, उन दिशा–सूचकों का कहा मानो जिनका नियंत्रण बड़े पड़ावों के हाथों में है, उन्हें ही साथी बनाओ जिन्हें बड़े पड़ाव साथ जाने के लिए आरक्षित कर दें और इस तरह अपने गंतव्य तक पहुँचकर अपनी यात्रा समाप्त कर दो। आज

के इस तंत्र ने मनुष्य की मनुष्यता को ख़त्म कर उसे यंत्र बना दिया। इस यांत्रिक और तांत्रिक अस्तित्व को कैसे मनुष्य कहें ?

नहीं, यह अस्तित्व सच्चा मनुष्य नहीं है। सच्चे मनुष्य बँधी हुई पाँतों पर, दिशासूचकों के नियंत्रण के अधीन नहीं दौड़ते। वे तो अपने स्वयं के प्रवाह के अधीन गतिशील होते हैं, यह प्रवाह उनमें स्वयं होता है, इस प्रवाह के वे स्वामी भी होते हैं और अधीनस्थ भी। यह प्रवाह उन्हें नियंत्रित नहीं करता, बल्कि उन्हें गति देता है। यह प्रवाह उन्हें यह समझ भी देता है कि कहाँ वास्तव में रुकना चाहिए। यही प्रवाह राम को शबरी की कुटिया में जूठे बेर खाने ले जाता है, कृष्ण को विवश करता है कुब्जा के पास जाकर उसके फूल स्वीकार करने, बुद्ध को प्रेरित करता है सुजाता की खीर खाने और बार–बार है नारायण को शेष–शय्या से उठाकर अन्याय को मेटने के लिए धरती पर कर्मपुत्र के रूप में उतारकर उन्हें संघर्ष करने के लिए बाध्य कर देता है। नारायण का बार–बार नर होना इसी प्रवाह की देन है और यही प्रवाह नारायण को नर और नर को नारायण बना देता है। इस प्रवाह को शब्द अभिव्यक्ति नहीं दे सकते, क्योंकि यह सारे अक्षरों और यात्राओं के बंधन से परे है। इस प्रवाह को किसी व्याकरण की कोई समीक्षा नहीं बाँध सकती, इसे कोई ज्ञानी परिभाषित नहीं कर सकता। यह प्रवाह, यह वेग सच्चे मनुष्य की असली विरासत है; इस विरासत को जो नहीं सहेज पाए वे मनुष्य नहीं रह पाए। विडम्बना यह है कि जिन गिने–चुनों ने इस विरासत को सहेजने की कोशिश की, उन्हें भी मनुष्य के रूप में स्वीकार ही नहीं किया गया। उन्हें या तो महामानव कहा गया, ईश्वर कहा गया या विक्षिप्त।

आज हम इस प्रवाह से परे हैं। यह प्रवाह है अंदर, लेकिन इसकी अनुभूति दबा दी जाती है। इसलिए कि यह प्रवाह कहीं समझौते नहीं करने देता, यह समूह से दूर खड़ा कर देता है, एक अलग पहचान देने की कोशिश करता है; जबकि हम, अपनी पहचान समुदाय में खोजते हैं। यह प्रवाह हमें उद्वेलित करता है, अन्याय का प्रतिरोध करने को उकसाता है, संघर्ष की ओर प्रेरित करता है, उसके जारी रहने के लिए विवश करता है, पुराने को तोड़ने और कुछ नया गढ़ने के लिए औज़ार तलाशने को मजबूर करता है आदमियत ज़िंदा बनी रहे, मरे नहीं–इसके लिए हमें दाँव पर लगा देने की पुरज़ोर कोशिश करता है। हमें तौलिया नहीं बनने देता कि किसी ने हाथ पोंछ लिये, फिर फेंक दिया और जब दुबारा ज़रूरत पड़ी तो फिर धुलवाकर टाँग दिया गया। यह प्रवाह एक नैसर्गिक स्वतंत्रता देता है–ऐसी स्वतंत्रता, जो स्वच्छंदता नहीं होती बल्कि जिसकी स्याही से आज की सच्चाई की इबारत लिखी जाती है, जिसकी ईंटों से स्वस्थ समाज के रहने के लिए एक छोटी–सी इमारत खड़ी की जाती है जिस पर कोई कालीन नहीं बिछे रहते। यह प्रवाह कोई सुविधा नहीं देता, इसलिए हम इससे परे रहते हैं, इसे दबाए रहते हैं और उन पाँतों पर दौड़ते–दौड़ते अपनी यात्रा पूरी कर लेते हैं जिन पाँतों को बड़े जतन से हमारे लिए बिछा दिया गया है।

इन पटरियों पर की जाने वाली यात्रा, यात्रा नहीं है, सिर्फ़ दौड़ना है–एक लक्ष्यहीन दौड़, जो अंतिम छोर पर पहुँचा देती है, कभी न लौटने के लिए; और अंतिम छोर कभी लक्ष्य नहीं होते। रस्सी का पहला सिरा हो या आखिरी, दोनों एक–जैसे हैं हम छोर को लक्ष्य मान लेते हैं और आजीवन दौड़ते रहते हैं। पटरियों पर यात्रा तो प्रवाह की होती है–उस प्रवाह की, जो अपने रास्ते खुद बना लेता है, पहाड़ के वक्ष को चीरता, घने जंगलों के अवरोध को पार करता, ऊँचाई की हर चुनौती को स्वीकारता, अपनी निरंतरता बरकरार रखता जो अपने अस्तित्व को सार्थक करता है; बँधी लीक, निर्धारित पथ, और तयशुदा मोड़ जिसकी नियति कभी नहीं गढ़ते। सच्ची यात्रा प्रवाह की होती है और हम यह यात्रा करते ही नहीं; जिसे हम यात्रा कहते हैं, वह यात्रा होती ही नहीं।

रेलगाड़ी की यात्रा एक दौड़ है, सिर्फ़ दौड़ जिसके नियामक गति–सूचक हैं, पटरियाँ हैं, बड़े पड़ाव हैं। यद ऐसी ही यात्रा मनुष्यता की होनी है तो वह यात्रा कदापि नहीं होगी, उसे एक स्थिरता के दौड़ने का उपक्रम ज़रूर कहा जा सकता है। आज यही उपक्रम हो रहा है, इस उपक्रम को विराम देना होगा। इसकी एकरसता भंग करनी होगी, भेद करना होगा मानव और रेलगाड़ी के बीच।

यह उपक्रम टूटे कैसे ? यही तो यक्ष प्रश्न है सामने, जिससे बचते हैं और दौड़ते गति–सूचकों के भरोसे।

यह उपक्रम प्रवाह से टूटेगा, उस प्रवाह से जिसके उद्दाम वेग को हम दबाए बैठे। यह उपक्रम टूट पाएगा यदि कर्मण्यता जाग उठेगी, क्योंकि इस प्रवाह की परिणति कर्म है; कर्महीनता दौड़ाती है और कर्मण्यता यात्रा कराती है। कर्म की क्लिष्ट और जटिल परिभाषाओं में बिना उलझे यदि अपने में समाए सहज प्रवाह के साथ बहते रहे, चट्टानों को तोड़ते रहे, घने जंगलों के बीच से रास्ता साफ बनाते रहे, ऊँचाइयों की चुनौतियों को स्वीकार करते रहे तो वह सब अपने–आप मिल जाएगा जिसकी लालसा में हम सिर्फ़ दौड़ते हैं और अंततः हासिल कुछ नहीं कर पाते।

यह लक्ष्यहीन दौड़ ही आज की चुनौती है जिसे विराम देकर यात्रा आरंभ करनी है। यह यात्रा तभी आरंभ हो पाएगी जब अपने में समाए प्रवाह का हम आह्वान कर पाएँगे और फिर यह प्रवाह जब बह निकलेगा पूरे वेग के साथ, तो सारी पटरियों को, बड़े–बड़े पड़ावों को, दिशा–सूचकों को बहा ले जाएगा। तब गति का गुंजन होगा और मनुष्यता का मंगलगान !

बहुत कुछ लिखा...

ऋतुओं पर लिख लिया, मूल्यों पर लिख लिया, मनोभावों पर लिख लिया, विसंगतियों पर, रीतियों, कुरीतियों, आडम्बर, छद्म, पाखंड, कुलीन, दीन, धरती, आकाश, पेड़–पौधे, व्यष्टि–समष्टि जितने और जो समा सके कलम की नोक में, सब पर लिख लिया, फिर भी कलम मेरे हाथों की ओर ताक रही है, स्याही का स्तर ज्यों–का–त्यों है। कलम की नोक जैसे चली ही नहीं। बहुत लिखा, मगर कुछ भी नहीं लिखा।

शायद जितने लिखनेवाले हैं उन सबसे श्रेष्ठ तो कबीर थे जिन्होंने न मसि को छुआ, न कलम हाथ में ली, मगर जो रच दिया बगैर कलम के, उसके आगे तो रचाव के रास्ते नहीं दीखते। वे अलिखित अक्षरों के जीवन्त शिलालेख हैं। उनसे बड़ा कोई अकवि नहीं और उनसे बड़ा कोई कवि नहीं। उनसे बड़ा कोई फकीर नहीं और उनसे बड़ा कोई भाषा का बादशाह नहीं। वे ऐसे निरक्षर थे जिन्होंने अक्षरों को अर्थ दिए, भाषा को सामर्थ्य दी और अभिव्यक्ति के निराकार राम के पाँवों में संवेदना की पैंजनियाँ बाँध दीं। इतना होते हुए भी कबीर कबीर रहे। उनसे बड़ा कोई भंजक, उनसे बड़ा सर्जक भी अपने काल में नहीं हुआ। कबीर ने कुछ नहीं लिखा, मगर यहाँ बहुत–कुछ लिखा लेकिन कुछ भी नहीं लिखा।

अन्धे थे सूर, लेकिन उनके नयनों की सामर्थ्य के सामने आलोक लजाता था। ब्रज, बंसी, बालगोविन्द और वृषभानुसुता उनकी आँखों के कोटरों में समूचे बसे थे जिसकी आँखों में आलोक के ऐसे आश्रयदाता बसे हों, उसके सामने आलोक सिवाय लजा जाने के और क्या करेगा ? सूर ने बिना कलम और स्याही के कान्हा और राधा की लीलाओं को अपने स्वरों में गूँथ दिया। सूर, सूर से स्वर हो गए। हमारी भाषा में अमर हो गए। उनका जन्मगाँव रुनकता ऐसा क्षितिज बन गया जहाँ से असंख्य प्रभातों को जन्म देनेवाले असंख्य सूरज उगे। यह गाँव ही अपने–आप में सूचा गीत हो गया। वहाँ की गलियाँ छंद हो गईं और घर सोरठे। सूर ने कुछ नहीं लिखा, मगर यहाँ बहुत–कुछ लिखा लेकिन कुछ भी नहीं लिखा।

दीवानी थी मीरा! इतनी दीवानी कि जीवन–भर कृष्ण के प्रेम की तृष्णा लिये मरुथल में डोलती रही। मीरा मंदाकिनी थी प्रेम की– मरुथल की ऐसी मंदाकिनी, जिसके प्रवाह ने जाने कितने प्रयाग और जाने कितने हरिद्वार धन्य किए। इस मंदाकिनी के प्रेम की धारा का प्रवाह इतना उद्दाम था कि वह अपने कृष्ण की प्रीति को, उस प्रीत के दर्द को अपने अन्तर में सँजोए अविकल बहती रही और बहते–बहते द्वारिका के समुद्र में समा गई। इस दीवानी ने द्वारिका के सागर में प्रेम के आवेग से वशीभूत हो छलाँग लगा दी। मीरा के दर्द का सागर और द्वारिका का समुद्र दोनों एकाकार हो गए और अकेले रह गए कृष्ण।

दर्द का यह महासागर लहराया और लहरियाँ गूँज गईं–

ऐ री मैं तो प्रम दीवानी मेरो दरद न जाने कोय।।

कहाँ थी कोई कलम जो इस दर्द को अक्षरों में पिरोती ? मीरा ने कुछ नहीं लिखा, मगर यहाँ बहुत कुछ लिखा लेकिन कुछ भी नहीं लिखा।

कहा जा सकता है फिर तुलसी ? क्या उन्होंने बहुत–कुछ नहीं लिखा ? लिखा तुलसी ने, मगर यह याद रखना चाहिए कि तुलसी के लेखन में कबीर का विद्रोह, सूर के स्वर और मीरा की पीड़ा समाई थी। तुलसी की तूलिका ने स्याही से स्वर उतारे थे। उनकी कलम व्यक्तिनिष्ठ नहीं, भावनिष्ठ, आस्थानिष्ठ, आराधनानिष्ठ, अमृतनिष्ठ, समष्टिनिष्ठ, सत्यनिष्ठ, निसर्गनिष्ठ, रूप, रस और गंधनिष्ठ थी।

इसलिए यदि वास्तव में लिखा तो तुलसी ने, और वास्तव में नहीं लिखा तो कबीर, सूर और मीरा ने।

लिखने और न लिखने के बीच कलम नहीं होती। क़लम तो माध्यम है व्यक्त करने का और व्यक्त करने का इकलौता माध्यम कलम नहीं है। अपने–आपको व्यक्त करने के लिए, 'मैं' को काग़ज पर उतारने के लिए जब कलम चुन ली जाती है तब यही होता है कि लिखा तो बहुत–कुछ जाता है, लेकिन यथार्थ में कुछ भी नहीं लिखा जाता।

तो क्या तुलसी के अलावा किसी ने लिखा ही नहीं ? लिखा है, क्यों नहीं लिखा ? लेकिन वही लिखा हुआ स्वीकार हुआ है जिसमें निजत्व की कम–से–कम गंध रही। उस लिखने की कोई सार्थकता नहीं जो लिखा जाए समष्टि के लिए, मगर जिस पर हावी रहें मैं, मेरे आग्रह। मैं के इस आरोप ने बहुत–कुछ निरूपित होने से रोक लिया।

बड़ी चिन्ता व्यापी है लेखन को लेकर। इस लिखने को लेकर जो चिन्ता व्यापी है वह एक क़िस्म की छद्म चिन्ता है। यह चिन्ता वास्तव में खुद की चिन्ता है बजाय लेखन के। लिखने को लेकर चिन्तित होने का कोई औचित्य नहीं है। चिन्ता उसकी होना ज़रूरी है जिसके लिए लिख रहे हैं; क्या और कैसा लिख रहे हैं यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। अनुभूति सजग हो तो शिल्प की बाँदी खुद–ब–खुद उसके रूप को सँवार देती है, शब्दों के केश गूँथ दिए जाते हैं और इन गुंफित केशों पर अभिव्यक्ति की जूही महकने लगती है। इसलिए चिन्ता अनुभूति की होनी चाहिए, अभिव्यक्ति की नहीं।

लिखना क्या मजबूरी है? कई यही वक्तव्य देते हैं कि लिखना उनकी विवशता है। मगर लिखना विवशता क्यों ? अनुभूति का आवेग तीव्र हो तो केवल लेखन उसकी नियति नहीं हो सकता। क्या यह विवशता केवल इसलिए नहीं जन्मती कि कर्म के दूसरे द्वार हम बन्द किए रहते हैं ? संवेदना जागे तो वह लेखन के अलावा कई अन्य माध्यमों से भी व्यक्त हो सकती है। अनुभूति के आवेग को ऐसी छेनी बनाना चाहिए जो उपलब्धियों के जयस्तंभ गढ़ सके।

तराश सके उन सोए पत्थरों को जिनके अंतर में सौंदर्य का मर्म समाया है। अनुभूति भाव है जिसका पहले रूपान्तरण किसी ठोस कर्म में होना चाहिए, लेखन की प्राथमिकता दूसरी हो सकती है।

लेखन विवशता नहीं है बल्कि हम अपनी निजी विवशता के कारण उसे विवशता कहते हैं।

सच्चा लेखन विवशता से नहीं, सहजता से जन्म लेता है। लेखन सीधी प्रतिक्रिया है उस संघर्ष की जो हम रोज़ करते हैं। यह संघर्ष हिलोरों की तरह संवेदना के तट से टकराता है और फिर यह संवेदना जागकर हलचल पैदा करती है–एक सहज हलचल। इसी हलचल से आंदोलन भी जन्मते हैं और काव्य भी। वास्तव में कविता भावों का रूपायन नहीं, किसी तट के नम हो जाने का एहसास है। इसलिए यदि इतिहास देखें तो यह पाएँगे कि जब–जब संवेदना घनीभूत हो गतिशील हुई, तब–तब आंदोलन जन्म गए और उनके साथ ही कविता भी।

जब तपश्चर्या–जैसी पवित्रता के अनुभव ने अवतार लिया तब वेद गाए गए। जब ज्ञान की आराधना का आंदोलन शुरू हुआ तो उपनिषद् रच दिए गए। जब कर्म और सत्य की अस्मिता स्थापित करने का विराट प्रयास हुआ तब महाभारत जन्मा। क्रौंच की व्यथा से उपजी करुणा से जब पहली बार नयन गीले हुए और आँसू ने अपना अर्थ समझाया तब वाल्मीकि रामायण के छन्द फूट पड़े, और जब कृष्ण की लीला और राधा के रस से लोकमानस आंदोलित हुआ तो भागवत के श्लोक और गीत–गोविन्द की अष्टपदियों से रस के एक नहीं, अनेक सागर उमड़ पड़े। कर्मकाण्डों और पाखंडों की जकड़न को तोड़ने, आभिजात्य के पाश को तहस–नहस करने और निराकार की आराधना करने के संकल्प के साथ जब एक महान् क्रान्ति जन्मी तब बीजक की बानी, साखी, सबद और रमैनी के रूप में अंगारों के फूल बरस पड़े। उसके बाद फिर शुरू हुआ सिलसिला भक्ति–आंदोलन का जो सिर्फ भक्ति का ही नहीं, रस और भाव का आंदोलन भी था। तब आविर्भूत हुआ रामचरितमानस जिसके शब्द–शब्द ने कण–कण में राम को रच दिया, और फिर इसी रससिक्त कड़ी में जन्मते गए सूर, कुंभन, रहीम, रसखान, रसलीन, ताज, मीरा, केशव, बिहारी, घनानंद, जाने कितने रस–पुरुष, महिमा–पुरुष, काव्य–पुरुष और जाने कितने सागर, छन्द, कविप्रया, रसिकप्रिया और सतसई।

यही सिलसिला आज तक जारी है। संवेदना की हलचल का पहला ठौर आज भी आंदोलन और दूसरा ठौर कविता है।

लेखन की यही सार्थकता है। जो नाम गिनाए गए वे कवि तो बाद में थे, पहले थे आंदोलक, पहले थे कर्म–पुरुष, पहले थे लौह–पुरुष। लेखन की ईमानदारी और पारदर्शिता तो इतनी कि जो लिखा, उसका न तो कोई प्रतिकार माँगा और न ही कोई प्रतिक्रिया चाही। और जब राजदरबार ने अनुरोध कर बुलाया तो कह उठे–

हम चाकर रघ्‌वीर के, पटो लिख्यौ दरबार,
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार।

इसलिए अपने लेखन की क्या चिन्ता ? चिन्ता उसकी करें जिसके लिए लिख रहे हैं। बात फिर वहीं आती है कि ऐसा लिखा भी क्या ? उतार दिए बिम्ब, तराश लिया भाषा का शिल्प, ओढ़ ली संवेदनाएँ, जोड़ ली उनकी डोर किसी ऐसे जहाज के मस्तूल से जो कहीं पहुँचा देगा, पीठ की तरफ, पुरस्कार की तरफ, पदवी की ओर या साहित्य के इतिहास के पन्नों की तरफ। उससे आगे की राह नहीं दीखती, दिशा नहीं सूझती।

साँझ भी गहरा रही है। लिख जरूर दिया है बहुत–कुछ पन्नों पर, मगर सच यही है कि बहुत–कुछ लिखा लेकिन कुछ भी नहीं लिखा।

छलावे को खोजते

सबसे बड़ी छलना भाषा है। शब्द से बड़ा छलिया कौन होगा ? बोलना छलना नहीं होता क्या ? पढ़कर क्या नहीं छले जाते ? पढ़ाकर क्या खुद को नहीं छलते ? शब्द यदि ब्रह्म है तो उसकी माया भी निराली है। मगर बिना भाषा के शब्द की गति नहीं। मौन में सिर्फ जड़ता है; गति तो शब्द ही देता है। प्रवाह से जोड़ता तो शब्द ही है वाणी ही तो स्पंदित करती है हमारे अस्तित्व को। क्या निराली है सृष्टि भी कि बिना शब्द के उसका व्यापार नहीं चल सकता और यह व्यापार अपने–आप में सिर्फ छलावा है।

वेद की पहली ऋचा से आज तक जो रचा गया, बोला गया, उसे लेकर लोकमत, कभी एकमत नहीं रहा। विचार जब वाणी से उतरे या शब्दों के माध्यम से व्यक्त हुए तो वे द्वंद्वात्मक होते गए और इसी द्वंद्व ने कहानी रची विकास की, मनुष्य के परिष्कार की, नई खोजों की। मनुष्य के विकास की समूची यात्रा के पथ शब्दशूलों से पूर्ण रहे। वे उसके पंजों में चुभे और यह चुभन उसे आगे पाँव बढ़ाने को मजबूर करती रही। शब्द यदि काँटे हों तो ऐसे काँटे पथ रोकते नहीं, उसे प्रशस्त करते हैं। तो क्या जो विकास को गति दे, मनुष्य का परिष्कार करे, नई खोजों को जन्म दे, वह छलावा है? हाँ, छलावा ही है। छलना कोई बुरा शब्द नहीं; छलने से अच्छा तो कोई शब्द ही नहीं। छलना बुरा तब है जब उसे धोखे से जोड़ें, अविश्वसनीयता और कपट से जोड़ें, भ्रान्ति और कलुष से जोड़ें। छलना को निश्छलता से भी जोड़ा जा सकता है; विश्वास, आस्था और प्रेम से भी जोड़ा जा सकता है। छलने का पर्याय कृष्ण हैं; कृष्ण कौन थे ? छलिया ! हम कितनी अगाध आस्था और दुलार के साथ उन्हें छलिया कहकर पुकारते हैं! इसलिए कि कृष्ण का छल जितना विश्वसनीय और निष्कपट था वैसा छल दुर्लभ है। गीता के बोल आज के अर्थों में छल के बोल नहीं हैं। कृष्ण–भाव छल–भाव नहीं, निश्छल छलावे का वह बंधन है जो मनुष्य को रसमय रहते हुए, प्राणवान और आशावान रहते हुए निरंतर आगे बढ़ते रहने को प्रेरित करता है।

शब्द माया तब होते हैं जब हम उनके अर्थ की आत्मा को सिर्फ अपने लिए सहेज कर, समाज को उनकी निष्प्राण देह सौंपना चाहते हैं। वाणी तब छलना बन जाती है जब वह अपने प्रति परहेज़ रखते हुए दूसरों को उनके कर्म को सुधारने का उपदेश देने लगती है। भाषा तब छलावा बनती है जब वह अपने जाल में समेटकर हमें रेतीले तट पर तड़पने के लिए छोड़ देती है। शब्द, वाणी और भाषा की जब छद्म भूमिकाएँ हो जाती हैं तब ये सिर्फ छलना–भर बने रह जाते हैं। आज इन्हीं भूमिकाओं के बीच हम अपनी अस्मिता को लिये जूझ रहे हैं। भाषा गढ़ी जा रही है, शब्द तराशे जा रहे हैं, वाणी में वशीकरण घोला जा रहा है। इनकी स्वाभाविकता छीन ली गई, और स्वाभाविकता का छिन जाना, छद्म को ओढ़ लिया जाना होता है। हम जितने बनावटी और कृत्रिम होते हैं, उतने ही स्वाभाविकता और नैसर्गिकता से

दूर होते जाते हैं। आज तो दूकानें सजी हैं शब्दों की, वाणियों की, कंठों की। इन दूकानों पर जो खरीद–फरोख्त हो रही है, वह छलावे की खरीद–बिक्री है. ऐसे छलावे की जिसके पर्याय कपट और अविश्वसनीयता हैं।

आज के शब्दों की विश्वसनीयता नहीं रही, भाषा का भरोसा नहीं रहा, वाणी से विश्वास उठ गया। पहले चीजें कृत्रिम हुआ करती थीं–नकली सोना, नकली हीरे, नकली चाँदी; अब शब्द, वाणी और भाषा की कृत्रिमता बाज़ार में है। जाने कितने स्वघोषित और अघोषित भगवान् हैं जो अपनी वाणी के दैवीय होने का दावा करते हैं। जाने कितने सर्जक हैं जो अपने रचे शब्दों की सर्जना के कालजयी होने का दावा स्वयं करते हैं, अपनी गढ़ी भाषा को ही श्रेष्ठतम कहते हैं। यही तो छलना है शब्द की ! वाल्मीकि, कृष्ण और गौतम ने ऐसे दावे नहीं किए इसलिए उनके शब्द, वाणी और भाषा छलना नहीं हैं। मनुष्य के परिष्कार की यात्रा आस्था में डूबे, अनुराग से भरपूर और विश्वसनीयता से पूर्ण शब्द की यात्रा है। यह उस वाणी और भाषा की यात्रा है जिसके सीधे सरोकार कर्म से हैं, इसलिए सच्ची और सार्थक भाषा वह है जो रचनात्मक आचरण के कंठ से फूटती है। वह छलावा नहीं होती। वह उलझती नहीं, भटकती नहीं, भ्रमित नहीं करती, बल्कि विवश करती है कुछ करने को। केशव, बिहारी, मतिराम और उनके– जैसे जाने कितने शृंगारिक कवि हुए मध्यकाल में, लेकिन वे साहित्य के कुछ पृष्ठों तक सीमित रह गए; मगर तुलसी, सूर, नानक, रैदास और कबीर ने जो गाया वह तो असीमित होकर कुछ इस तरह फैला कि आज भी उनके बोलों की अनुगूँज में वर्तमान समाज अपने–आपको परिष्कृत करने का यत्न करता है। इनके शब्द कहीं भटकाते नहीं, उलझाते नहीं, भ्रम में नहीं डालते; बल्कि, आगाह करते हैं और आह्वान भी करते हैं कुछ गढ़ने का, रचने का, बनाने का।

ऐसे शब्द, ऐसी भाषा, बिना प्रयास के फूटती है। उसे तराशना नहीं पड़ता। यह भाषा फूटती है दृष्टि से और यह दृष्टि जन्मती है एक सिद्ध अनुभव से, संघर्ष से। अन्धे सूर और असहाय कबीर से बड़ा आज तक शायद ही कोई दृष्टिवान और ताकतवर पैदा हुआ हो। जो भाषा दृष्टि के उत्स से फूटती है, वही भाषा समर्थ होती है। उसके शब्द–शब्द, ईंट–ईंट होते हैं जो निर्माण के नित–नए शिल्प गढ़ देते हैं। इसलिए भाषा और शब्द के उत्स को, स्रोत को पहचानना, उन्हें विकसित करना ज़रूरी है। आदमी का विकास, उसकी उदार और खोजपूर्ण अंतर्दृष्टि के कारण हुआ है। भाषा तो इस विकास को गति भर देती है। मौन साधक भी हुए हैं, लेकिन उनकी साधना का क्षेत्रफल नहीं बढ़ पाया क्योंकि बिना वाणी के वे समाज के पोर–पोर तक पहुँच नहीं पाए। समाज के पोर–पोर में समाकर, उसे परिमार्जित करने का, विकसित करने का, आगे बढ़ाने का दायित्व तो भाषा ने निभाया है, वाणी ने निभाया है, मौन ने नहीं निभाया।

इसलिए दृष्टि के उसे स्रोत की पहचान ज़रूरी है, विकास ज़रूरी है जिसके गर्भ से उस भाषा की स्रोतस्विनी फूटे जिसका प्रवाह समाज में परिमार्जन की नई लहरें पैदा करे, उसकी जड़ता तोड़े, उसे नए उन्मेष के साथ खड़ा कर दे।

आज संख्यातीत शब्द हैं, सजी–सजाई जाने कितनी भाषाएँ, तरह–तरह के वशीकरण मंत्रों से विद्ध वाणियाँ, और इन सबके बीच हमारा देश डूब गया है। इनमें कोई सामर्थ्य नहीं; सिर्फ दिखावा है जिसके पीछे सब दौड़ पड़े हैं। शब्द खेमों में बँटे हैं, भाषा शिल्पों में और वाणी पंडालों में। भक्त और भगवान् दोनों इकट्ठा हैं खेमों में, अपने–अपने परिधानों में, पंडालों में, और दृष्टि का कहीं पता नहीं। चारों ओर ऐसे अंधत्व का साम्राज्य है जिसमें कृत्रिम रौशनी की जगमग है, जिसमें कोई रास्ते नहीं तलाशे जा सकते। यही छलावा है शब्द का, भाषा का, वाणी का जिसके पढ़ने–सुनने और बोलने में कोई सार नहीं, क्योंकि यह छलना सबसे बड़ी निस्सारता है।

सारवान भाषा जहाँ से निःसृत हो, उन गोमुखों को ढूँढ लें। वे गोमुख तो हमारी ही अंतर्दृष्टि के हैं, जो हमीं में समाए हैं। इन्हीं गोमुखों से तो सार्थक भाषा की निर्झरणी बहनी है। इसी निर्झरणी का प्रवाह जड़ता तोड़ेगा, गति देगा, निर्माण देगा, उजाले से भरपूर सृष्टि रचेगा। यदि ये गोमुख हममें से हरेक ने अपने अन्दर तलाश लिये तो फिर किसी खेमे या पंडाल की तरफ दौड़ने की ज़रूरत नहीं होगी, किसी परिधान को ओढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। सब गोमुख जब खोज लिये जाएँगे तो फिर किसी से अलकनन्दा निकलेगी, किसी से भागीरथी, किसी से मन्दाकिनी, नर्मदा, गोदावरी, गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्र।

इन सबका समवेत सच्चे शब्द रचेगा, सार्थक कृष्ण–भाव की सर्जना करेगा–उस कृष्ण–भाव की जो आस्था, प्रेम और विश्वास का पर्याय है और इसी कारण इस भाव– मूर्ति को हम छलिया कहते हैं।

हरे हरे हथियार लिये

प्रतीक्षा थी पावस की, वह आ गई। बारिश के इंतज़ार में रोहिणी नक्षत्र का एक– एक दिन एक–एक बरस की तरह बीतता था। गर्म तवे की तरह तपती धरती पर देह का सेंका जाना कितना त्रासद होता था ! उस यंत्रणादायक वेदना से मुक्ति मिली। अब तो घिरते मेघ हैं, बरसती बौछारें हैं, भीगते तन और मन हैं, हरी दूब खिल आई है, कोंपलें झाँकने लगी हैं ठूंठों से, नदियों की देहयष्टि विस्तारित हो चली, ठंडी बयार का बहाव संवेदना की तड़पती मछली को रेत के तट से कविता की नदी के बीच खींच लाया, यह मछली अब गहरा गोता लगाकर गीत की पंक्तियों को लहरों के रूप में दूर–दूर तक फिर फैलाएगी। गीत, संगीत, प्रीत जो गर्मी में क्लांत होकर दुबक गए थे कोनों में, अब फिर आँगन के बीचो–बीच गलबहियाँ डाले डोल रहे हैं। यह खिलने की बेला है।

पावस का आगमन, मुरझाने का प्रस्थान है। वर्षा का आना, अवसाद का जाना है। छलछलाते पाँवों से जब छाले अचानक ग़ायब हो जाएँ और वे पाँव हरे घुँघरू बाँधकर जब थिरकने लगें तो बारिश की यही सौगात धरती के कोने–कोने पर छंद रच दिया करती है। मन के उल्लास के लास्य को बरसात कह देना लास्य के भाव को अनदेखे स्वर्ग से दृश्यमान धरती पर उतारना है। गर्मी के बाद वर्षा का आगमन कुछ ऐसा ही अहसास कराता है जैसे शिव के तीसरे नेत्र की ज्वाला शांत हो गई हो और अपने पूरे रूप–लावण्य के साथ पार्वती कैलास की बर्फीली छत पर हौले–हौले अपने कदम रखकर चहलकदमी करने निकल पड़ी हो।

मन में जाने कितनी अनुभूतियाँ हैं। वर्षा के आगमन के बाद उग आनेवाले या जीवंत हो उठनेवाले प्रतीक रह–रहकर बार–बार स्पंदित करते हैं। वर्षा की हर बूँद एक स्पन्दन का ही तो सार्थक नाम है। आकाश से बदली झरी और जाने कितनी श्वेत, पारदर्शी बूँदें धरा को सौंप गई। इन बूँदों को क्या कहें ? ये बूँदें स्पन्दन ही तो हैं जो मृतप्राय पीली दूर्वा को हरा–भरा कर देती हैं, दूब की डूबती धड़कनों को गति दे देती हैं, उसे फिर से जिला देती हैं। इन्हीं बूँदों को पाकर सूखती नदी का प्रवाह अपने प्राणों की अस्मिता को बचा ले जाता है। यही बूँदें ठूंठों में कोंपलों को जन्म देती हैं, मुरझाते वृक्षों को प्राणवान बना देती हैं और क्लांत मनुष्य को कान्ति दे देती हैं। जो लोग इन बूँदों का सिर्फ झर जाना और बह जाना देखते हैं वे इन बूँदों की अर्थवत्ता से अपरिचित रह जाते हैं; वे सिर्फ गर्मी को सहन करनेवाले, उसे कोसकर चुप रह जानेवाले अर्थहीन मनुष्य वर्षा की बूँदों को पाकर जो जीवंत नहीं हो पाया, वह मानुष भाव को जीनेवाला प्राणी नहीं। उसे मनुष्य भी कैसे कहें ?

बूँदें अंततः स्पन्दन हैं, वे प्राणों की पर्याय हैं और ये बूँदें तो अपने विस्तार में, अपनी अर्थवत्ता में हर ऋतु और परिवेश में मौजूद हैं। फर्क यही है कि इन बूँदों की पहचान हम नहीं करते। खेत में बोवनी करते, हल जोतते किसान के मस्तक से जो स्वेद–बिन्दु टपकते हैं वे

श्रम के स्पन्दन हैं, कर्म की धड़कन हैं। धमन–भट्टी में कोयला झोंकते, कारखानों में रात–दिन काम करते, करघों को निरंतर खटखटाते और इस तरह अपने परिश्रम से पसीने की बूँदें बहाकर सारी मनुष्यता को विकास के परिधान पहनानेवाले जो निर्धन मज़दूर हैं, उनकी देह पर छलछलाते स्वेद–बिन्दु ही मनुष्य की अविराम विकास–यात्रा के पथरीले पथों को हरियाली से भरपूर कर देते हैं। यही हरियाली यात्रा को गति दे देती है, किसी यात्री को थकने नहीं देती, निराश होकर बैठ जाने या यात्रा को विराम दे देने के विचार को उपजने नहीं देती। परिश्रम से उपजे स्वेद–बिन्दु, पसीने के कण, जब कभी चमकते हैं तो उनकी रौशनी में मानवीय उपलब्धियों के जाने कितने गिरिराज जगमगा जाते हैं। हममें से ज़्यादातर इन बूँदों का सिर्फ बह जाना देखते हैं; इनकी चमक नहीं देख पाते, गिरिराजों की जगमगाहट नहीं देख पाते। ऐसा शायद इसलिए होता है कि हम खुद इन बूँदों के उपज जाने की अनुभूति से अपरिचित हैं। इन बूँदों को उपजाकर जिन्होंने कुछ बनाया, कुछ रचा, उस रचे हुए को झपट लेना हमारी आदत है और इसीलिए इन बूँदों के उपजने से हम अपने–आपको परे रखते हैं। दुनिया का कोई विचार, कोई चिन्तन श्रम का निषेध नहीं करता, अकर्मण्यता को अपनाने का आह्वान नहीं करता। फिर क्या है ऐसा कि परिश्रम के कारण उपजी पसीने की बूँदों से परहेज़ होने लगा ? इसलिए होने लगा क्योंकि बिना परिश्रम किए इन बूँदों से गढ़े जाने वाले निर्माण खरीदे जाने लगे। ये निर्माण जो पहले कभी उसके निर्माता की मिल्कियत हुआ करते थे, उनसे उसे महरूम करने का सिलसिला चल पड़ा। पहले जो बोता था, फसल उसकी होती थी; तो हमने धरती खरीद ली। पहले जो हल बनाता था उसकी धमन–भट्टी पर हमने कब्ज़ा कर लिया। पहले जिसके करघे होते थे, वस्त्र भी उसी के होते थे। हमने उसके करघे छीनकर उसी को किराए पर दे दिए और वह बुनकर इन करघों का किराया अपने पसीनों की बूँदों के रूप में अदा करने लगा। इस तरह बुद्धिमानों ने जाने कितने पावस खरीद लिये या खरीदकर उन्हें किराए पर दे दिया। पावस कर्ज़ हो गए और बूँदें इस कर्ज़ का सूद जिसे कभी उतरना नहीं, सिर्फ़ चढ़ते जाना है।

वर्षा में जब कभी बाढ़–भरी नर्मदा को देखता हूँ तो लगता है के सूद के समुद्र में ज्वार आया है। इसलिए वर्षा की बूँदों को पाकर हम जीवंत नहीं हो पाते, मनुष्य नहीं हो पाते; मानुष भाव से परे रहते हैं।

मानुष भाव की सच्ची व्यंजना वर्षा की बूँदों में है। इन बूँदों की व्यंजना में जाए बगैर जी भले लें, सच्चे मनुष्य नहीं हो पाएँगे। वर्षा की हर बूँद को जब तक एक स्पन्दन के रूप में, प्रेरणा के रूप में, अविराम यात्रा करने के संकल्प–भाव के रूप में ग्रहण नहीं किया जाएगा तब तक पावस की अर्थवत्ता को अधूरा ही बना रहना है। वर्षा की बूँद जब स्पन्दित हो उठने के लिए अपने–आप में समो ली जाएगी तो वह क्रेता–भाव अपने–आप विलुप्त हो जाएगा जो किसी मजबूर के श्रम को खरीदकर, उसके साथ अमानवीयता के सारे चरम को तोड़ता मानुष

भाव को अपमानित करता है। आज जो क्रेता का दंभ–भाव पैदा हो गया उसका शमन ही वर्षा का सार्थक स्वागत है। अभी जो श्रम को प्रतिष्ठा नहीं दी जाती उसका इकलौता कारण यह है कि अकर्मण्य रहते हुए भी वे लाभ मिल जाते हैं, सुविधाएँ मिल जाती हैं, जिन्हें परिश्रम कर नहीं पाया जा सकता। तदर्थवाद, समझौतापरस्ती और तिकड़म ने यह रास्ता सुझा दिया कि स्वेद–बिन्दु कैसे खरीदे जा सकते हैं, श्रम और साधना का कैसे आखेट किया जा सकता है, मालिक से उसकी मिल्कियत कैसे छीनी जा सकती है।

पावस के आगमन की बेला में गाए जाने वाले मंगलगान बहुत हो चुके, बहुत लिखे जा चुके वर्षा–गीत, जाने कितने विशेषांक निकल चुके, बहुत–से शब्द निरर्थक व्यय हो चुके, लेकिन पावस की बूँद के अर्थ अभी तक नहीं समझे जा सके। हर बरस बरखा आती है, चली जाती है; बूँदें बह जाती हैं, शब्द व्यय हो जाते हैं, लेकिन पावस कभी सार्थक नहीं हो पाता। वर्षा की बूँदों से भले दूब को जीवन मिल जाए, हम जीवंत नहीं हो पाते।

होना यह चाहिए कि जब मेघ बरसें, धवल बिन्दु बिखरने लगें आकाश से धरती पर तो उनके इस झरने को देखकर सिर्फ आँखों को परितृप्त नहीं करना चाहिए, हरियाले मन से सिर्फ रसभीने छन्द नहीं रच देने चाहिएँ, इन बूँदों को अपनी समूची अस्मिता की तहों तक जाने देना चाहिए, इनसे मन नहीं प्राण भिगोने चाहिएँ; अपनी जड़ों को तर कर लेना चाहिए और फिर इन जीवन्त प्राणों के सहारे पावस को उसी तरह मनुष्यता को नए सिरे से गढ़ने के लिए उगने देना चाहिए, जैसे पावस के 'ऊगने' की कल्पना प्रकृति के संदर्भ में माखनलाल ने की थी–

घर ऊगा है, वह ऊगा हैं, ज्वार लिये
लड़ने उतरा हरे–हरे हथियार लिये।

निबन्ध नहीं होता पूरा

निबंध पूरा ही नहीं हो पाता। तो फिर अभी तक जिन्हें निबंनध कहते रहे वे क्या हैं? वे निबंध हैं, लेकिन अधूरे हैं। जब ज़िन्दगी ही अधूरी हो तो निबंध पूरा कैसे लिखा जाएगा? निबंध तो वही पूर्णता में लिख पाएगा जो जीवन पूर्णता में जी ले। जिस कोण से देखें जीवन अधूरा ही दीखता है तो कैसे कहें कि जो निबंध लिखे गए वे अपने–आप में पूर्ण निबंध हैं? जीवन तो खुद निबंध होता है। कुछ जिसके शब्द–भर लिख पाते हैं, कुछ वाक्य लिख लेते हैं, कुछ उसका एक अंश लिख लेते हैं, लेकिन पूरा निबंध अपनी समग्रता में कौन लिख पाया है ?

निबंध नहीं होता पूरा। वह तो अधूरा ही रहता है और उसे अधूरा ही रहना चाहिए। इसलिए रहना चाहिए कि जिस दिन वह पूरा मान लिया गया उसकी अहमियत खत्म हो जाएगी। उसे भी पूजागृह में प्रतिष्ठित कर दिया जाएगा, भक्तगण उसे माल्यार्पित कर उसके अर्थ को नष्ट कर देंगे, इसलिए निबंध अधूरा ही रहना अच्छा। पूरा करने की होड़ में जो अनर्थ ईश्वर के नाम पर होता है, वह अनर्थ आदमी के नाम पर न हो, आदमी नाम के निबंध के नाम पर न हो, इसलिए निबंध की अपूर्णता बनी रहना ज़रूरी है।

मुझे अपनी अपूर्णता और अपने अधूरे निबंधों पर गर्व है। इसलिए है कि सोचता हूँ डगर तो मिली ! निठल्ला बैठा था, चलने तो लगा ! कहीं यह अहसास हो गया कि मंज़िल मिल गई तो सोच लूँगा कि निबंध पूरा हुआ, बैठ जाओ और फिर बैठा ही रह जाऊँगा। चलने को विराम न मिले इसलिए निबंध लिखता हूँ, निरन्तर लिखता हूँ और अधूरे निबंध लिखता हूँ।

आज कई ऐसे हैं जो मानते हैं कि उन्होंने कालजयी रच लिया। वे तृप्त हैं, पूर्ण मानते हैं अपने आपको और अपने शाश्वत सृजन का खुद बखान करते हैं। मुझे लगता है कि ये लोग भले ज्ञान में, उम्र में अनुभव में, समृद्धि में बड़े हों, लेकिन वास्तव में बड़े छोटे और बौने हैं। समुद्र में एक द्वीप पर अपना झंडा लहरा दिया और उसके अधिपति घोषित कर स्वयंभू सम्राट हो गए। समुद्र में उभरे धरती के एक छोटे से टुकड़े को अपना साम्राज्य घोषित कर सम्राट बन जाना बड़ा आसान है, आत्ममुग्ध कर देनेवाला है, मगर क्या उन्हें यह अनुभव नहीं होता कि उनके इस विदूषक चरित्र पर समुद्र और धरती दोनों ठहाके लगाते होंगे ? अनुभव नहीं होता है; इसलिए नहीं होता क्योंकि उन्हें ऐसे अनुयायी भी मिल जाते हैं जो उन्हें भरोसा दिला देते हैं कि आप तो चक्रवर्ती सम्राट हो इस धरती के, समूचे सागर के। ऐसे कालजयी सर्जकों ने हमेशा यह अहसास ज़िंदा रहने दिया है कि निबंध कभी पूरा नहीं होता है। पूर्ण होना, फिर चाहे वह किसी का हो, असंभव है, इसलिए पूर्ण शब्द की अस्मिता कायम है। अपूर्ण होने की अस्मिता इसलिए बरक़रार है क्योंकि उसका नैरन्तर्य भंग नहीं होता।

इन दोनों का अस्तित्व ज़रूरी है क्योंकि जब तक असंभव विद्यमान रहेगा, उसे संभव बनाने की कोशिशें जारी रहेंगी, और जब तक निरन्तरता रहेगी तब तक गति बनी रहेगी, वेग बना रहेगा, प्रवाह थमेगा नहीं। असंभव और वेग के बने रहने का ही तो दूसरा नाम अधूरा निबंध है।

जब आदमी अधूरा, जीवन अधूरा, दुनिया अधूरी तो इन सब पर लिखे जाने वाले निबंध कैसे पूर्ण मान लिये जाएँ ? आधे बखरे खेत खलिहान में आधी उड़ी और आधी बिन उड़ी फसलें, हरियाते दीखते लेकिन फलहीन वृक्ष, आधे वसंत पार कर यौवन की दहलीज़ पर खड़ी जोगिया परिधान पहने जोगन, बिना पतवार के मँझधार में डोलती अधूरी नाव, अधूरे पाँव, अधूरे गीत, अधूरी तान, अधूरे स्वर, अधूरा सफर, जहाँ देखूँ वहीं अधूरा तो फिर निबंध कैसे पूरा हो ? इस अधूरेपन के रहते निबंध पूरा नहीं होगा। कह सकते हैं कि इस अधूरेपन को तो बने ही रहना है तो क्या कभी निबंध पूरा होगा ही नहीं ? नहीं होगा। अपूर्णता जब तक है, जब तक अधूरापन विद्यमान है, तब तक पूर्णता का निबंध कैसे रचा जा सकेगा?

जिन निबंधों को पूर्ण निबंध कहते हैं, उनसे बड़े कोई अधूरे निबंध नहीं। पूरा निबंध रचा जा सके– इसके लिए ज़रूरी है कि अधूरेपन को पहले उजागर किया जाए। फिर कोशिश की जाए कि यह अधूरापन दूर कैसे हो ? यही कोशिश अगला कदम होगी और इस तरह यात्रा बढ़ेगी आगे की ओर। इस यात्रा के पूर्ण होने की कोई समय की सीमा नहीं– उसे समय में बाँधना भी ठीक नहीं। वह जब कभी पूर्ण होगी, निबंध पूरा हो जाएगा। निबंध को पूरा करने की कोशिश न की जाए। निबंध को सायास पूरा करने की चेष्टा में कई अधूरे निबंध भी अच्छे नहीं रचे जा सके। अधूरे निबंध ही अच्छे रच लिये जाएँ बिना इस आकांक्षा के कि कोई कालजयी पूर्ण रचना रच ली, तो भी निबंध का लिखा जाना सार्थक होगा। अपने अधूरेपन को जानते, कभी तो पूरा रचा जा सकेगा? यह अभिलाषा बनी रही तो यह अधूरे निबंध की सार्थकता होगी। कई हैं दुनिया में जो अपनी निजी समृद्धि को जग की पूर्णता से जोड़कर देखने का यत्न करते हैं। जाने कितने ध्यानयोगी, कर्मयोगी, अर्थयोगी हैं संसार में जो अपने तई समृद्ध हैं, अपन आपको पूर्ण मानते हैं, और सोचते हैं कि उनकी जो उपलब्धि है वह जगत की पूर्णता है। उनसे बड़ा कोई अधूरा नहीं। अपनी निजी समृद्धि में जीवन लगा दिया, फिर उपदेष्टा होकर पूर्णत्व का आख्यान करने लगे, खुद अधूरे रहते हुए औरों को राह दिखाने लगे पूर्ण होने की, तो इससे बड़ा कोई छलावा नहीं। निजस्व के कायम रहते पूर्णता नहीं पाई जा सकती। निजस्व है, इसलिए अधूरापन है; निजता के तिरोहण का भाव पूर्णता की संभावना को जन्मेगा, लेकिन लोग अपनी निजता में खोए दूसरों को सामाजिक होने, समग्र होने की दृ ष्टि देने का दावा करते हैं। यही दावा मुझे बार–बार इसी नतीजे पर पहुँचाता है कि निबंध अधूरा है अभी। देखता हूँ तो देखता ही रहता हूँ, सोचने लगता हूँ तो सोचता ही रहता हूँ, लिखने लगूँ तो लिखता ही रहता हूँ, और मन यदि रम जाए बोलने में तो फिर बोलता ही

रहता हूँ, यह निरन्तरता बनी रहती है, देखने, सोचने, लिखने और बोलने से मन कभी भरता ही नहीं। बीच–बीच में भले उचट जाए लेकिन वह तृप्त नहीं होता। यही अतृप्ति, यही प्यास, यही मन के न भर पाने का भाव बार–बार सहमत कराता है कि निबंध को तो अभी पूरा होना ही नहीं। हमारे जिन पुरखों ने बार–बार जन्म लेने की बात कही, वे सच्चे अर्थों में निजता से छुटकारा पाने की आकांक्षा सँजोए रखने वाले लोग थे। एक जन्म के बाद दूसरा जन्म पाने की आकांक्षा के पीछे यह निहित था कि जो इस जन्म में नहीं कर पाए वह अगले जन्म में पूरा कर पाओ और तब तक जन्मते जाओ तब तक कि अपनी निजता नहीं खो दो, समग्र नहीं हो लो; कभी तो ऐसा जीवन जी जाओगे जो तुम्हारे लिए नहीं होगा। मोक्ष और कुछ नहीं सिवाए इसके कि ऐसा अंतिम जीवन जी लिया जाए जो अपने लिए न हो। इसलिए बार–बार जन्म लेने की बात जिसने कही उसका सार्थक अर्थ यही रहा कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता से मुक्त होने की कामना में निरन्तर लगा रहे। जिन्हें अमर होने का वरदान मिला वे अमर भले कहे जाते रहे लेकिन निष्प्राण हो किंवदंती बन गए।

वैयक्तिकता, निजता से परे हो जाना ही सच्ची अमरता है।

यही अमरता ऐसा पूर्ण परमानन्द देती है जिसके लिए बार–बार मरण ज़रूरी होता है। कबीर इसीलिए मरण की कामना करते हुए विह्वल हो कहते थे –

कब मरिहों, कब देखिहों, पूरण परमानन्द ?

पूर्ण परमानन्द से साक्षात् हो जाए तो निबंध पूरा होता है, अन्यथा हर जन्म अधूरा निबंध है। यह पूर्ण परमानन्द की स्थिति क्या है? क्या आत्मलीन हो, सबसे विमुख होकर ध्यान में खो जाएँ और तल्लीनता की इसी मनःस्थिति में यह अनुभव करने लगें कि हमने परमानन्द को पा लिया या जप और ध्यान करते, सारे तीर्थों की यात्रा करते, सारी पवित्र नदियों में स्नान करते देह त्याग दें इस संतोष के साथ कि यही देह त्याग सच्ची मुक्ति है, परमानन्द का पा जाना है, पूर्ण हो जाना है ?

ज़्यादातर यही सोचते और करते हैं, लेकिन कबीर के लिए तो परमानन्द के अर्थ ही दूसरे थे। वे तो आजीवन जूझते रहे आडम्बरों से और यही सोचते रहे कि अभी काम पूरा हुआ नहीं, वह बदलाव नहीं आया जो उनकी व्याकुलता को शांत कर पाता, उन्हें तृप्त कर पाता, उन्हें परमानन्द दे पाता, इसलिए उनकी कामना रही कि मैं मरते दम तक जूझता रहूँ और यह मरण जल्दी आए क्योंकि तभी तो वह अंतिम जन्म होगा जिसमें मैं परमानन्द देख पाऊँगा, पूर्णता देख पाऊँगा।

पूर्णता के प्रति उनकी दृष्टि बड़ी मौलिक थी। एक निर्मल मनुष्यता, एक आडम्बरहीन समाज, एक ही जाति जिसका नाम मनुष्य है और एक ही धर्म जो सारे संप्रदायों से ऊपर उठकर सिर्फ एकता का उद्घोष करता है।

इन अर्थों में कबीर का जीवन पूर्णता की हद तक पहुँचने वाला एक अधूरा निबंध है। निबंध नहीं होता पूरा। अधूरे निबंध ही रचे जाते रहें, यही बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि रचाव के रास्ते पर पाँवों के निशान तो बनते रहेंगे।

पाँवों का अस्तित्व रहे, वे निशान बनाते रहें, सपाट रास्ते पर गति दीखती रहे तो लगेगा कि रच लिया निबंध, लगेगा कि निबंध भले अधूरे रचे लेकिन जीवन तो पूरा जिया है।